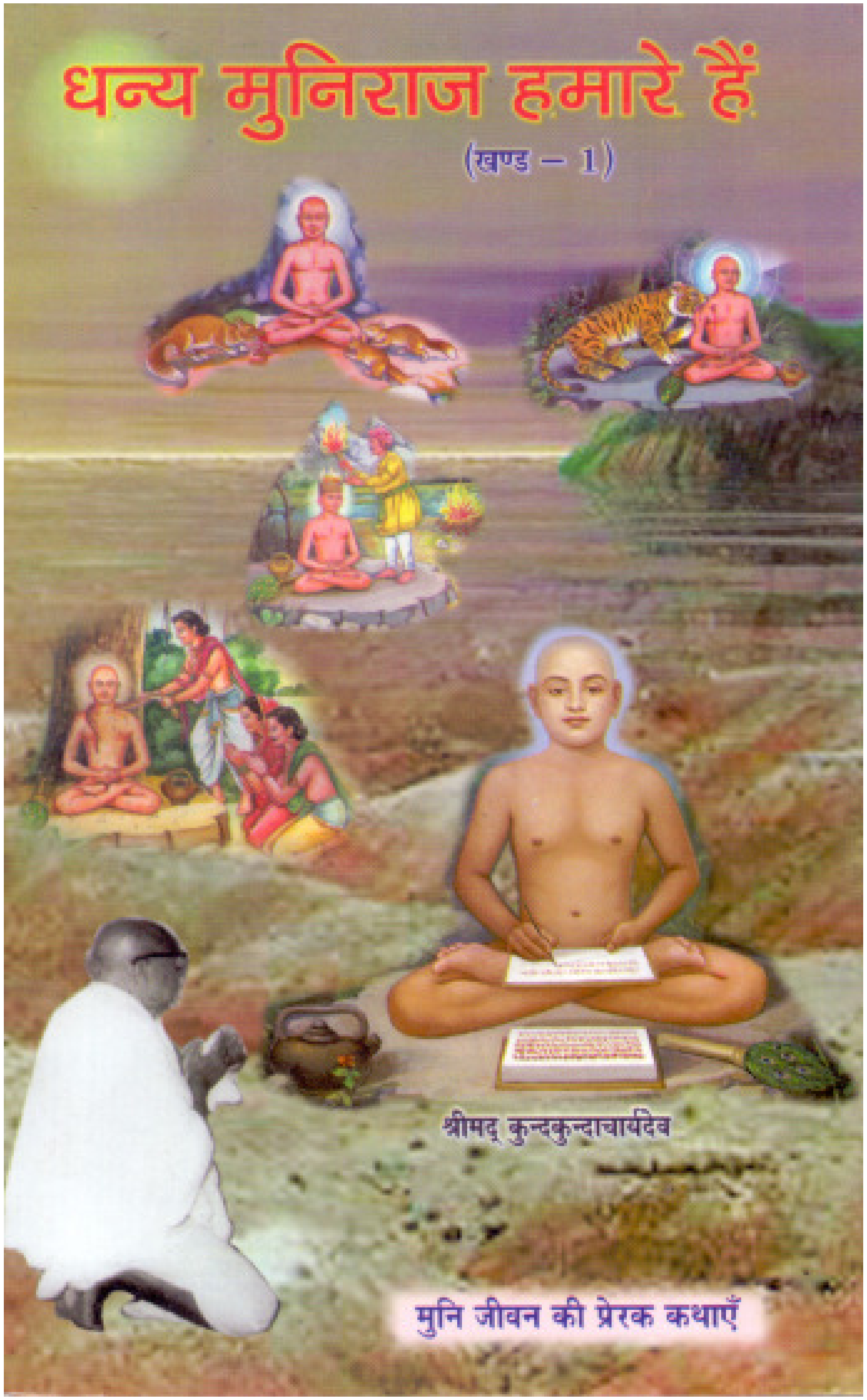

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

धन्य मुनिराज हमारे हैं

(मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ)

(खण्ड-1)

सङ्कलन एवं सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :

श्री आलोक जैन

(माताश्री श्रीमती सरलादेवी जैन की पुण्य स्मृति में)

कानपुर, उत्तरप्रदेश

प्रकाशक :

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

पूर्व पाँच संस्करण : 6100 प्रतियाँ
छठवाँ संस्करण : 1000 प्रतियाँ
(पण्डित कैलाशचन्द्र जैन जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित मङ्गल समर्पण समारोह के अवसर पर दिनांक 10 जून 2012)

ISBN No. : 81-89824-00-7

न्योछावर राशि : रुपये 15.00

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

(छठवाँ संस्करण)

'धन्य मुनिराज हमारे हैं' (खण्ड – 1) कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कृति में परम पूज्य दिगम्बर मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव को दर्शानेवाली 19 कथाओं एवं दो संस्मरणों का अद्‌भुत सङ्कलन किया गया है। अति अल्प समय में इस कृति का पञ्चम संस्करण इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह तो सर्वविदित है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** अपने उद्‌भव काल से ही परम पूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों, वीतरागी सन्तों एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा प्रचारित जिन सिद्धान्तों को देश–विदेश में प्रचार–प्रसार करने हेतु प्रयासरत है।

वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार–प्रसार की विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत **मङ्गलायतन** पत्रिका का मासिक प्रकाशन उल्लेखनीय है। यह पत्रिका विविध विशेषाङ्कों के रूप में प्रतिमाह प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के वर्तमान में धन्य मुनिदशा विशेषाङ्कों के 42 विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं, जो अभी तक के इतिहास में एक अपूर्व उपलब्धि है।

इन विशेषाङ्कों से प्रेरणा पाकर **तीर्थधाम मङ्गलायतन** परिसर में 'धन्य मुनिदशा' प्रकल्प का निर्माण किया गया है, जिसमें स्वरूपानन्दी वीतरागी मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव को ध्वनि एवं प्रकाश के माध्यम से जीवन्त प्रस्तुति प्रदान की गयी है। आज हजारों लोग प्रतिदिन यहाँ

पधारकर विश्व की इस अद्वितीय रचना का दर्शन कर दिगम्बरत्व के गौरव से परिचित होते हैं, साथ ही इस भ्रम का प्रक्षालन भी करते हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री मुनिविरोधी है। **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्राङ्गण में साधर्मीजनों के ये स्वर मुखरित होते हुए आप देख/सुन सकते हैं कि पूज्य श्री कानजीस्वामी तो सच्चे मुनिभक्त हैं।

इन विशेषाङ्कों में प्रकाशित सामग्री को आवश्यक परिवर्तन/परिवर्धन के साथ शीघ्र ही 'धन्य मुनिदशा' नाम से 4 खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है।

मुनिराजों की अन्तरपरिणति, परीषहों की विषय परिस्थितियों में सुमेरुवत् अचल परिणति की गौरव गाथाएँ सम्पूर्ण प्रथमानुयोग में यत्र-तत्र उपलब्ध है, उनमें से कतिपय प्रसङ्ग विविध कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रहीत कर प्रकाशित किये जा रहे हैं। इन कथा ग्रन्थ में जिन-जिन लेखकों द्वारा लिखित कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है, हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सङ्कलन एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँवाले) **तीर्थधाम मङ्गलायतन** द्वारा किया गया है। इस कार्य में पण्डित राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, **तीर्थधाम मङ्गलायतन** का भी समुचित सहयोग प्राप्त हुआ है।

प्रकाशन सहयोग के रूप में श्री आलोक जैन, कानपुर द्वारा अपनी माताश्री श्रीमती सरलादेवी जैन की पुण्यस्मृति के प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

सभी साधर्मीजन इन कथाओं के माध्यम से मुनिदशा की भावना प्रगट करेंगे – इसी आशा एवं विश्वास के साथ।

पवन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

सम्पादकीय

परम पूज्य वीतरागी दिगम्बर जैन सन्तों की गौरव गाथाओं को दर्शाता प्रस्तुत ग्रन्थ 'धन्य मुनिराज हमारे हैं' मुनिभक्त साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

चलते-फिरते सिद्धरूप मुनिराज की अन्तरपरिणति तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागता से ओत-प्रोत होती है तो उनकी बाह्य मुद्रा अत्यन्त निर्विकार नग्न दिगम्बर होती है। मुनिराज के दर्शनों का सौभाग्य श्रावक जीवन का धन्य पल होता है और यदि उनको आहारदान का प्रसङ्ग अपने आँगन में बन जाए तो कहना ही क्या! इस प्रसङ्ग का भाववाही वर्णन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं –

'सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त भगवान की भक्ति के लिये मैं क्या-क्या करूँ? किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ! किस प्रकार इन्हें अर्पणता दूँ! – इस प्रकार धर्मात्मा का हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाता है और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग बने, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया... इस प्रकार अपारभक्तिपूर्वक मुनि को आहार देते हैं।'

मुनि भगवन्तों का सम्पूर्ण जीवन आत्मसाधनामय होता है। उपसर्ग-परीषह उनके पवित्र आत्मध्यान की परीक्षा का काल होता है। ऐसी

विषम परिस्थिति में मुनिराज अपने ज्ञायकस्वभाव का उग्र अवलम्बन ग्रहण करते हुए प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं।

जिनागम का प्रथमानुयोग ऐसे ही स्वरूप साधकों की मङ्गल गौरव गाथाएँ प्रस्तुत कर हमें भी निरन्तर आत्म-साधना की प्रेरणाएँ प्रदान करता है।

अहो! मुनिराजों के जीवन के ये पवित्र संस्मरण हमारे चित्त में उन साधकों के प्रति भक्तिभाव तो जागृत करते ही हैं, हमें उस दशा की पावन भावना भी जागृत करते हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रतिमाह प्रकाशित होनेवाली **मङ्गलायतन** पत्रिका के माध्यम से अब तक 37 विशेषाङ्क प्रकाशित कर, उन आराधक सन्तों के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित की है, जो अपने आप में एक ऐतिहासिक कार्य है। इस कार्य के मूल प्रेरणास्रोत तो पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अन्तरङ्ग में व्याप्त मुनिभक्ति ही है। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्द जैन अलीगढ़ की मङ्गल प्रेरणाएँ भी इस कार्य के प्रति निमित्तभूत हुई है। अत: मैं अपने परम उपकारी इन गुरुओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कथा संग्रह में जिन कथाकारों द्वारा लिखित कहानियों का सङ्कलन किया गया है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इस मङ्गल कार्य में प्रवृत्त होने से मुझे पूज्य वीतरागी सन्तों का अन्तरङ्ग जानने का अवसर तो प्राप्त हुआ ही है, साथ ही उदयजन्य विषम परिस्थितियों में विचलित न होने का साहस भी उपलब्ध हुआ है।

इस कार्य का सुअवसर प्रदान करने के लिए अग्रज श्री पवन जैन, पण्डित अशोक लुहाड़िया इत्यादि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में यही भावना भाता हूँ कि धन्य मुनिदशा का धन्य क्षण मेरे जीवन में भी आये।

तीर्थधाम मङ्गलायतन देवेन्द्रकुमार जैन

अनुक्रमणिका

1.	आचार्य कुन्दकुन्ददेव की विदेहयात्रा	1
2.	आत्मानुभूति की सरस चर्चा	7
3.	धन्य वारिषेण! धन्य मुनिदशा!!	11
4.	आहारदान के संस्कार	18
5.	आत्मसाधक वीर गजसुकुमार	31
6.	वीतरागी मुनि नागकुमार	35
7.	क्षमामूर्ति मुनिराज यशोधर	41
8.	सत्य छिपाये नहीं छिपता	49
9.	धन्य धन्य सुकुमाल महामुनि!	56
10.	पाण्डवों का वैराग्य	64
11.	सप्तर्षि मुनि भगवन्त	73
12.	धन्य पुत्र... और धन्य वह माता!	89
13.	भवरोग की दवा	92
14.	आप कुछ भी कहो	94
15.	जागृत विवेक	103
16.	अक्षम्य अपराध	109
17.	मुनिराज ने बनाया - बन्दर से भगवान	114
18.	वज्रबाहुकुमार का वैराग्य	118
19.	गुरुदत्त मुनि	125
20.	नाटक में एक जीव के दो स्वाङ्ग	129
21.	श्री मुनि-भगवन्त के साथ... एक दिन	142

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन साहित्य में

मुनिभक्ति के मङ्गल गीत

सिद्धपद के साधक-आराधक

सन्त तो अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञपद को ग्रहण कराने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। सिद्धपद को साध रहे हैं, उन्होंने निज चैतन्यगृह में सिद्धों का सत्कार किया है और रागादि परभावों को दूर किया है। अहा! अनन्त स्वभाव की साधना करनेवाले सन्त-मुनिवरों की क्या बात! सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय भी अनन्तगुण के रस से उल्लसित होती हुई आनन्दरूप हो गयी है। अहा! अनन्तगुण से गम्भीर ऐसे चैतन्यतत्त्व को साधनेवाले जीव की दशा भी महा गम्भीर होती है।

हम भक्ति से वन्दन करते हैं

अहा! वे सन्त तो चैतन्य के निर्विकल्प शान्तरस का वेदन करनेवाले हैं, वहाँ उन्हें बाह्य विकल्पों की काँक्षा क्यों हो? वे परम निष्काँक्ष हैं। अन्तर में परमसुखरस के पान से जो स्वयं तृप्त हुए हैं, वे अब दु:खजनक विषयों की इच्छा क्यों करेंगे? — ऐसे परम नि:काँक्ष भाववाले जैन साधु होते हैं। सन्तों के ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दमय चैतन्य-परिणमन को पहिचानकर, हम भक्ति से उनकी वन्दना करते हैं।

मोक्ष के सन्मुख, भव से विमुख : मुनिराज

अहा! मोक्ष के साधक साधुओं की दशा तो परमात्मतत्त्व की भावना में परिणमित हो गयी है, एकदम अन्तर्मुख होकर ढल गयी है; इसलिए वे निर्मोह और निर्ग्रन्थ हैं। चैतन्य के आनन्द का अनुभव करके जो विषयों से सदा विरक्त है और आत्मा में सदा अनुरक्त हैं — ऐसे चार आराधना के आराधक साधु, मोक्ष के सन्मुख और भव से विमुख हैं — ऐसे साधुओं की पवित्र चैतन्यदशा को हम वन्दन करते हैं।

(- आत्मधर्म वर्ष 28, अंक 4 एवं प्रवचनरत्नचिन्तामणि, भाग-3, से साभार)

1

आचार्य कुन्दकुन्ददेव की विदेहयात्रा

लगभग 2200 वर्ष पूर्व अपने भारतदेश के दक्षिण भाग में एक सेठ रहता था। उसके यहाँ एक ग्वाला था, जो बहुत भद्रपरिणामी था।

एक बार वह ग्वाला अपने नित्य क्रमानुसार गायों को चराने के लिये जङ्गल में गया। वहाँ जाकर वह देखता है कि सम्पूर्ण जङ्गल आग से भस्म हो गया है परन्तु जङ्गल के बीचों-बीच एक वृक्ष आग से अप्रभावित ज्यों का त्यों खड़ा है।

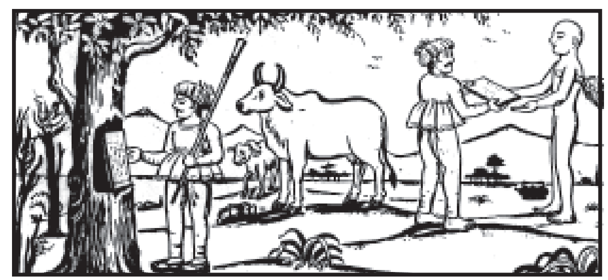

इस दृश्य के अवलोकन से उस ग्वाले को आश्चर्य हुआ। उसी आश्चर्य से प्रेरित होकर उसने वृक्ष के समीप जाकर देखा तो पाया कि वृक्ष की पोल में एक शास्त्र रखा है। ग्वाले को लगा – 'अवश्य ही इस शास्त्र के कारण यह वृक्ष बचा है।' – इस विचार से वह ग्वाला अत्यन्त बहुमानपूर्वक उस शास्त्र को अपने घर ले आया।

एक बार उसी सेठ के यहाँ मुनिराज का शुभागमन हुआ। सेठ ने नवधाभक्तिपूर्वक उन मुनिराज को आहारदान दिया। इस परिदृश्य को देखकर ग्वाले के मन में भी मुनिराज के प्रति अत्यन्त बहुमान का भाव जागृत हुआ और वन से लाया हुआ वह शास्त्र, उसने भक्तिभावपूर्वक उन मुनिराज को अर्पण किया।

उस समय उस ग्वाले के मन में ज्ञान के बहुमान की अचिन्त्य भावना जागृत हुई और भावना हुई कि अहो! मैं भी कब ऐसा साधु बनूँगा? इस शास्त्रदान के फलस्वरूप उसका ज्ञानावरणकर्म अत्यन्त क्षीण हो गया अर्थात् उसके ज्ञान का विशेष उघाड़ हो गया।

कुछ समय पश्चात् वह ग्वाले का जीव मरकर उसी सेठ के यहाँ पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ।

बालवय से ही अत्यन्त वैराग्यवन्त और तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी उस बालक ने मात्र ग्यारह वर्ष की आयु में आचार्य श्री जिनचन्द्रस्वामी के समीप जाकर नग्न दिगम्बर मुनिदीक्षा अङ्गीकार कर ली। मात्र ग्यारह वर्ष का किशोर हाथ में कमण्डलु और पीछी लेकर मुनिदशारूप वीतरागदशा में विचरने लगा। यही अपने श्रीमद् भगवन् कुन्दकुन्द मुनिराज हैं।

अब उसके बाद क्या हुआ? वह सुनो! वह बहुत ही आनन्ददायक प्रसङ्ग है।

वे नन्हें से कुन्दकुन्द मुनिराज आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मस्त रहने लगे। उनका ज्ञान बहुत-बहुत खिलने लगा... उनका चारित्र उज्ज्वल बना... और जमीन पर पैर रखे बिना, जमीन से चार अंगुल ऊँचे आकाश में गमन कर सकें - ऐसी चारणऋद्धि भी उन्हें प्रगट हुई।

अहो! उनका पवित्र आत्मा अन्दर में तो विकार को छूता ही नहीं था और बाहर में भी धूल को नहीं छूता था। अप्रमत्त और प्रमत्त - ऐसे भेदरहित 'ज्ञायकभाव' की उपासना में वे तल्लीन थे और प्रचुर स्वसंवेदन से आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द को भोगते थे। संसार-समुद्र का किनारा उनके एकदम नजदीक आ गया था।

आत्मानुभव के उपरान्त तीर्थनायक भगवान महावीर की परम्परा से समागत ज्ञान को भी उन्होंने प्राप्त कर लिया था। उस समय वे हजारों मुनियों में महान बने... और 33 वर्ष की मुनिधर्म की साधना के बाद एक बार (मगसर बदी अष्टमी को) चतुर्विध संघ ने मिलकर महान उत्सवपूर्वक उन्हें आचार्यपद से अलंकृत किया....। उनके सशक्त करकमलों में जैनशासन का रथ सौंपा, वे जैनशासन के नेता बने, उनके प्रताप से जैनधर्म की बहुत उन्नति हुई, धर्म की प्रभावना हुई। यद्यपि उनका ज्ञान अगाध था, तथापि अभी केवलज्ञान नहीं हुआ था। उस समय भरतक्षेत्र में कोई केवलज्ञानी भी विद्यमान नहीं थे, अत: केवलज्ञान का ऐसा विरह उनको कभी-कभी खटकता रहता था।

'अरे! भरतक्षेत्र में तो सर्वज्ञ परमात्मा के दर्शन भी नहीं!

विदेहक्षेत्र में तो सीमन्धरादि परमात्मा साक्षात् विराज रहे हैं'

इस प्रकार सीमन्धरादि परमात्माओं को स्मरण करते हुए वे 'पौन्नूरमलै' (तमिलनाडु) के समीप बैठे-बैठे सीमन्धर परमात्मा के समवसरण का स्मरण कर रहे थे, 'वहाँ सर्वज्ञदेव की मूसलाधार वाणी बरसती होगी, गणधर विराजते होंगे। अनेकों मुनिराज आत्मध्यान करके केवलज्ञान पाते होंगे। अहा! कैसे होंगे वे दृश्य!!'

यहाँ भरतक्षेत्र में कुन्दकुन्द मुनिराज सीमन्धर प्रभु को याद कर रहे थे, वहाँ भगवान के समवसरण में इस बात की खबर पड़ी। वहाँ से दो देव भक्तिपूर्वक कुन्दकुन्दस्वामी के पास आये और उनके साथ आकाशमार्ग से विचरण करते हुए कुन्दकुन्दस्वामी भी विदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों के लिए रवाना हुए। अहा! भरतक्षेत्र के मुनिराज विदेहक्षेत्र के तीर्थङ्कर से मिलने आकाशमार्ग से चले... भरतक्षेत्र के मुनिराज देहसहित विदेह की यात्रा के लिये चले... अरे! कैसा होगा वह अद्भुत प्रसङ्ग?

अहा! ये कुन्दकुन्द मुनिराज भगवान के दर्शनों के लिए आकाशमार्ग से जा रहे हैं, कैसा अद्भुत दृश्य! और कैसे होंगे उन मुनिराज के अन्तरङ्ग भाव!! केवलज्ञान के साधक मुनिराज केवलज्ञान को साक्षात् निहारने जा रहे हैं। भरतक्षेत्र के तीर्थपति विदेहक्षेत्र के तीर्थङ्कर की वाणी सुनने जा रहे हैं। दक्षिण देश में से पूर्व विदेह की ओर जाते-जाते बीच में सम्मेदशिखर तीर्थ भी मार्ग में आया होगा... उसे वन्दन करते हुए ऋद्धिबल से पर्वत को पारकर थोड़ी ही देर में शाश्वत् तीर्थ सुमेरु की भक्तिभाव से

वन्दना की होगी... रत्नमय शाश्वत जिनबिम्बों की वीतरागता देख-देखकर वीतरागभाव की उर्मियाँ उनमें जगी होंगी। इस प्रकार मार्ग में अनेक तीर्थों की वन्दना करते हुए उन्होंने थोड़ी ही देर में विदेहक्षेत्र की भूमि में प्रवेश किया।

अहा! विदेहक्षेत्र में समवसरण के मध्य में सीमन्धर परमात्मा को नजर से निहारते ही उनके आत्मा में कोई अचिन्त्य विशुद्धि

प्रगटी... इन ज्ञायक परमात्मा को देखकर मानो एक बार तो वे स्वयं भी तत्क्षण निज ज्ञायक में ठहर गये। परम विनय से हाथ जोड़कर कोई अपूर्वभाव से प्रभु को नमस्कार किया, दिव्यध्वनि का श्रवण किया। अहा! यह शम्भूस्वामी आदि गणधर भगवन्तों और इन चैतन्यलीन मुनिवरों की सभा!.... यह इन्द्र और पद्म चक्रवर्ती द्वारा प्रभु की सेवा और धर्म का अद्भुत वैभव!! ये सब धर्म की आराधना के अद्भुत आनन्दकारी दृश्य कैसे होंगे! विदेह के ये दृश्य देखकर उनका आत्मा तृप्त हुआ। उन्होंने दिव्यध्वनिरूपी गंगा में से हृदय भर-भरकर शुद्धात्मा का अमृत पिया —

प्रत्यक्ष जिनवर दर्श का, बहु हर्ष एलाचार्य को।
ओंकार सुनता जिनतणें, अमृत मिला मुनि हृदय को॥

भरतक्षेत्र के मुनि ने विदेहक्षेत्र के भगवान का दर्शन किया, वे आठ दिन विदेहक्षेत्र में रहे... आठ दिनों तक भगवान के चरणों में दिव्यध्वनि का अमृत पिया... बहुत-बहुत पिया।

वहाँ के मुनियों के साथ उन्होंने कैसी चर्चा की होगी? और कैसे भाव से गणधरों और श्रुतकेवलियों के चरणों की उपासना की होगी? अहो! भरतक्षेत्र और विदेहक्षेत्र के मुनिराजों के मिलन का वह दृश्य कैसा होगा!! यह प्रसङ्ग देखनेवाले जीव भी कितने भाग्यशाली हैं। भरतक्षेत्र के इन प्रतिनिधि को देखकर विदेहक्षेत्र के मनुष्य भी आनन्दित हुए और अत्यन्त भक्तिभाव से प्रभु कुन्दकुन्दाचार्य का बहुमान किया।

विदेह के विशाल आकृतियुक्त मानवों के समक्ष भरत के मानव तो एकदम छोटे लगते थे, अत: विदेह के मानवों ने उन्हें छोटे से आचार्य अर्थात् एलाचार्य नाम से सम्बोधित किया। भले ही विदेहक्षेत्र के मुनियों की तुलना में उनका शरीर छोटा था, पर उनकी दशा (आत्मानन्द) तो विदेह के मुनियों जैसी ही थी। जैसे विदेहक्षेत्र के मुनि, वैसे ही अपने भरतक्षेत्र के ये मुनि! विदेह के मुनियों ने भरतक्षेत्र के इन मुनिराज के प्रति कैसा वात्सल्यभाव दर्शाया होगा।

इस प्रकार श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य ने परमभक्ति से विदेह की यात्रा की और सीमन्धर भगवान के दर्शन किये। वाह! ज्ञायकभाव के आराधक इस... महान... जीव ने भगवान को साक्षात् निहारा... और आज स्वयं भी उनके मार्गानुसारी बनकर पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में बैठे हैं। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

2

वीतरागी मुनिराज के साथ

आत्मानुभूति की सरस चर्चा

तीर्थराज सम्मेदशिखर जैसे कोई उपशान्तधाम में निवृत्तिपूर्वक रहते हुए एक मुमुक्षु को महाभाग्य से रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनिभगवन्त के दर्शन प्राप्त हुए, मुनिदर्शन से उसे महा प्रसन्नता हुई और उनके सत्सङ्ग में रहकर उसने आत्महित की अनेकविध चर्चा की। कैसी चर्चा की? उसका एक नमूना आप यहाँ पढ़ेंगे... तो आपको भी प्रसन्नता होगी।

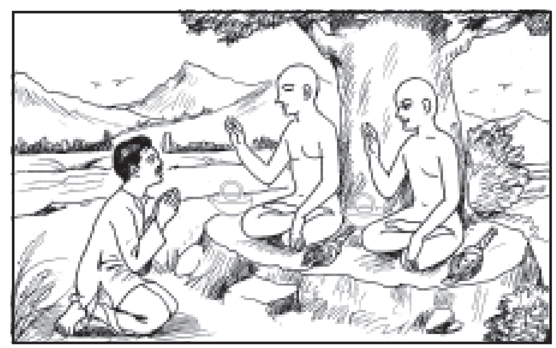

मुमुक्षु ने श्रीमुनिमहाराज को देखते ही अत्यन्त हर्षपूर्वक वन्दना की और कहा — 'हे प्रभो! महाभाग्य से आज मुझे आपका दर्शन हुआ। आपके सत्सङ्ग में मेरी आत्मभावना अवश्य पूरी होगी। हे गुरुदेव! रत्नत्रय की अनुभूतिरूप परिणत हुआ आत्मा आपके अन्तर में विराज रहा है तो कृपाकर मुझे भी

यही दिखलाइये कि ऐसी अनुभूति किस प्रकार हो?'

श्रीमुनिमहाराज ने जिज्ञासु का प्रश्न सुनकर प्रसन्नता व्यक्त की और आशीर्वादपूर्वक कहा — 'हे मुमुक्षु! अनुभूति की महिमा बहुत अपार है। आत्मा स्वयं ज्ञान की अनुभूतिस्वरूप है। उसकी ज्ञान की अनुभूति में राग की अनुभूति नहीं है — ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान करके बार-बार चिन्तन करने से अपूर्व स्वानुभूति प्रगट होती है।'

मुमुक्षु फिर पूछता है — 'हे स्वामी! ऐसी अनुभूति होने पर क्या होता है?'

मुनिराज ने कहा — 'सुनो, वत्स! तुम्हारी जिज्ञासा उत्तम है। अनुभूति होते ही आत्मा अपने आप में स्थित हो जाता है; उसमें अनन्त गुण के चैतन्यरस का ऐसा गम्भीर वेदन होता है कि जिसके महान आनन्द को वह आत्मा ही जानता है। यह वेदन वाणी में नहीं आ सकता।'

अहा, सम्मेदशिखर जैसे सिद्धिधाम में, दिगम्बर मुनिराज के श्रीमुख से स्वानुभूति की ऐसी अद्भुत चर्चा सुनते-सुनते मुमुक्षु का आत्मा जागृत हो रहा है; वह आत्मा और अनुभूति का सूक्ष्म स्वरूप जानने के लिए पुनः पूछता है — 'प्रभो! वाणी में आये बिना उस वेदन की पहचान कैसे हो?'

मुनिराज ने उत्तर दिया — 'हे वत्स! स्वयं अपने स्वसंवेदन से आत्मा को उसकी पहचान हो जाती है। जैसे यह सम्मेदशिखर पहाड़ नजरों से दिख रहा है, वैसे ही आत्मा अनुभूति में इससे भी अधिक स्पष्ट दिखता है।'

मुमुक्षु ने आश्चर्य के साथ पूछा — 'हे देव! आँखों से सम्मेदशिखर दिखता है, उससे भी आत्मा के स्वसंवेदन को अधिक स्पष्ट कैसे कहा?'

श्रीगुरु ने कहा — 'हे भव्य, सुनो! नेत्र से जो यह पहाड़ दिख रहा है, वह तो इन्द्रियज्ञान है; अतः परोक्ष है और आत्मा को जाननेवाला जो स्वसंवेदनज्ञान है, वह तो अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष है; अतः वह अधिक स्पष्ट है।'

अब स्वानुभूति की अधिक गहराई में पहुँचकर वह मुमुक्षु पूछता है — 'अनुभूति के समय तो मति-श्रुतज्ञान ही हैं (अवधि-मनःपर्यय नहीं है) फिर भी उन्हें प्रत्यक्ष तथा अतीन्द्रिय कैसे कहा?'

श्रीमुनिवरों को भी स्वानुभूति की आध्यात्मिक चर्चा में अत्यन्त प्रसन्नता हो रही थी; उन्होंने कहा — 'हे भव्य! स्वानुभूति के समय उपयोग आत्मा में ऐसा लीन होता है कि इन्द्रिय तथा मन का आलम्बन नहीं रहता, अतः उस समय उसके प्रत्यक्षपना है। अहा! उस समय के अद्भुत निर्विकल्प आनन्द की क्या बात!!'

स्वानुभूति की ऐसी सुन्दर स्पष्टता समझकर मुमुक्षु ने परम उपकारबुद्धि से कहा — 'अहो भगवन्! आपने अनुभूति की अद्भुत बात समझायी। यह समझकर आज मुझे अलौकिक चैतन्यरस का प्रतिभास हो रहा है। आपके मुख से मानो चैतन्य का अमृत ही झर रहा है। मेरे महाभाग्य से आप मिले और आपने मुझे अनुभूति का रहस्य समझाया। अब मैं भी अवश्य ऐसी अनुभूति प्रगट करूँगा और आपके सङ्ग में रहूँगा।

श्रीमुनिमहाराज ने आशीर्वाद देते हुए प्रसन्नता से कहा — 'हे मुमुक्षु! धन्य है तेरी भावना! तेरी आत्मरुचि दर्शाती है कि तुझे शीघ्र ही अनुभूति का महान लाभ प्राप्त होगा।'

'अहो देव! मेरे जैसे भव्य जीवों को अनुभूति का मार्ग दिखाकर आप महान उपकार कर रहे हो। मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि आपकी सेवा करने का और आपके साथ में रहने का सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मेरी तीर्थयात्रा सचमुच में सफल हुई।'

अन्त में उस मुमुक्षु ने आत्मलगनी के बल से स्वानुभूति प्राप्त कर ली और मुनिसंघ के साथ में ही रहता हुआ मुनिपद की भावना भाने लगा। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

मुनिराज जङ्गल में क्यों बसते हैं ?

सम्यग्दृष्टि को अन्तर में सिद्ध-समान अतीन्द्रिय आनन्द का आंशिक स्वाद आता है, उस स्वाद को अर्थात् स्वभाव के आलम्बन से विशेष अतीन्द्रिय आनन्द को प्रगट करने के लिए मुनिराज एकान्त निर्जन जङ्गल में बसते हैं। सम्यग्दृष्टि को मुनिदशा होने की ऐसी भावना अन्तर में बर्तती है कि 'मैं कब अन्तर-बाह्य निर्ग्रन्थ होऊँगा?'

(- वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/113)

3

धन्य वारिषेण! धन्य मुनिदशा!!

संसार के श्रेष्ठ वैभव से सम्पन्न मगधदेश के अन्तर्गत **राजगृही** नाम का सुन्दर नगर है। सम्यक्त्वविभूषित नीतिनिपुण **श्रेणिक** वहाँ के नृपति थे। उनकी **महारानी चेलना** तत्त्वदृष्टा, सुन्दर, बुद्धिमान, शीलवान, सरलचित्त थीं। उनका **वारिषेण** नाम का एक धर्मवत्सल पुत्र था, जो ध्यान और स्वाध्यायादि में सदैव निरत रहता था। कभी-कभी वह घने जङ्गलों और श्मशान में भी ध्यान करने चला जाता था।

इसी राजगृही नगर में एक **श्रीकीर्ति** नाम के राजश्रेष्ठी निवास करते थे। एक दिन वे वनक्रीडा के लिए नगर के उद्यान में गये। सेठ के गले में एक बहुत कीमती मणियों का हार पड़ा था। वहाँ **मगधसुन्दरी** नाम की वेश्या उस हार को देखकर मुग्ध हो गयी। हार प्राप्त करने की अभिलाषा लिये वह उदास होकर घर लौट आयी। जब रात्रि में वेश्या का अनन्य प्रेमी **विद्युत्चोर** उसके पास आया तो उसे उदास देखकर प्रेम से पूछने लगा – 'प्रिय! इतनी उदास क्यों हो? क्या किसी ने कुछ कह दिया है या मुझसे ही कोई भूल हो गयी है? मुझसे तुम्हारी यह उदासी देखी नहीं जाती।'

वेश्या कटाक्ष करती हुई बोली — 'चलो, देख लिया तुम्हारा प्रेम; मैं तो तुम्हें सच्चा प्रेमी तभी जानूँगी, तब मेरी प्रिय वस्तु मुझे लाकर दोगे। मैंने आज श्रीकीर्ति सेठ के गले में सुन्दर हार देखा है। आप जैसे प्राणवल्लभ के होते हुए भी यदि मैं वह हार प्राप्त न कर सकी तो मेरा जीवन व्यर्थ है। मैं तभी अन्न-जल ग्रहण करूँगी, जब मुझे वह हार मिल जायेगा।'

— इस प्रकार विद्युत्चोर को उसने अपने जाल में फँसा लिया।

वेश्या विषवृक्ष की तरह व्यक्ति को मूर्छित कर देती है। वह जोंक की तरह व्यक्ति का ज्ञान और धन चूस लेती है और उसका सर्वस्व हरण कर छोड़ देती है। वेश्या के कटाक्ष बाण जीव को घायल कर देते हैं। उसके नकली प्रेम में पागल प्राणी सब कुछ अनर्थ करने को तैयार हो जाता है।

मगधसुन्दरी की कठिन प्रतिज्ञा को सुनकर विद्युत्चोर हतप्रभ रह गया। फिर भी वह कामान्ध होकर हार चुराने को बाध्य हो गया। वह सेठ के महल में घुस गया। अपनी कार्यकुशलता से वह दिव्य हार चुराकर वहाँ से भागा, परन्तु हार का दिव्य प्रकाश छिप न सका और सिपाहियों ने उसे देख लिया। उसे पकड़ने के लिए वे उसके पीछे दौड़ पड़े। विद्युत्चोर भागता-भागता श्मशान की ओर जा निकला। उस समय राजकुमार वारिषेण कायोत्सर्गपूर्वक वहीं श्मशान में ध्यानस्थ खड़े थे। उसने मौका देखकर हार को वारिषेण के आगे डाल दिया और स्वयं वहाँ से भाग गया।

इतने में सिपाही भी वहाँ पहुँचे और कुमार को हार के समीप ध्यानस्थ खड़ा देखकर अचम्भित रह गये और हँसकर मजाक उड़ाते हुए बोले — 'वाह! चाल तो खूब चली, मानो हम धर्मात्मा समझकर छोड़ जाएँगे। रे धूर्त! धर्मात्मा बनकर ऐसा नीच कृत्य करता है। चल राजदरबार में, वहाँ स्वयं ही तुझे तेरे अपराध की सजा मिल जाएगी।'

सिपाहियों ने तत्काल उन्हें बाँध लिया और राजदरबार की ओर चल पड़े। **पाप के उदय में कभी-कभी निरपराध ज्ञानियों को भी घोर अपमान का सामना करना पड़ता है। जिनका हृदय स्फटिकवत् निर्मल होता है, अशुभकर्म का उदय उनके जीवन में भी कलङ्क की कालिमा लपेटना चाहता है।**

न्याय, पिता-पुत्र नहीं देखता। अपने पुत्र वारिषेण की उस घटना को सुनकर महाराजा श्रेणिक का हृदय क्रोध से तमतमा गया, आँख से क्रोधाग्नि की चिंगारियाँ निकलने लगीं। वे सिंह के समान गरजकर बोले — 'रे दुष्ट, पापी, कुल-कलङ्की, धर्मात्मा और ध्यानी का ढोंग बनाकर लोगों को ठगता है। देख लिया तेरे धर्म का पाखण्ड। जिसे मैं सिंहासन पर बैठाकर अधीश्वर बनाना चाहता था, वह ऐसा नीच निकला। हा! कष्ट! इस दुराचारी को यहाँ से ले जाकर टुकड़े-टुकड़े कर डालो।''

अपने पुत्र के लिए ऐसी कठोर आज्ञा सुनकर प्रजा भय से काँपने लगी, सबकी आँखों में पानी भर आया। पर किसका साहस, जो राजा की बात का प्रतिवाद कर सके! जल्लाद उसी समय निरपराध वारिषेण को बध्यभूमि में ले गये। राजपुत्र को ले

जाते समय उनके भी हाथ-पैर काँप रहे थे। उन्होंने ज्यों ही खड्ग निकालकर वारिषेण की गर्दन पर वार किया, वारिषेण को लगा कि मानो किसी ने उनके गले में पुष्पहार डाल दिया है। यह देखकर जल्लाद आश्चर्यचकित रह गये।

धर्म का प्रभाव देखकर देव भी आकाश से जय-जयकार करते हुए पुष्पवर्षा करने लगे। सारा जनसमूह वारिषेण को निरपराध जानकर और धर्मप्रभाव देखकर जय-जयकार करने लगा। यह सब देखकर मानो वारिषेण विचार करने लगे -

जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन जाँचे, बिन चिन्तये, धर्म सकल सुख दैन॥

कल्पवृक्ष तो याचना करने पर फल देते हैं, चिन्तामणि भी चिन्तवन करने से फल देता है, परन्तु धर्म तो बिना याचना किये और बिना चिन्तवन किये ही कोई परम अद्भुत फल देता है।

महाराजा श्रेणिक ने जब इस अलौकिक घटना का वृतान्त सुना तो वे स्तम्भित रह गये। धर्म का प्रभाव देखकर बिना विचार किये अपने कृत्य पर पश्चाताप करने लगे। उनके नेत्र अश्रुपूर्ण हो

गये। वे बार-बार अपने को धिक्कारने लगे। दुःखित हृदय श्रेणिक, महारानी चेलना के साथ शीघ्र ही पुत्र वारिषेण के पास वध्यभूमि में गये।

वारिषेण की निश्चल पुण्यमूर्ति को देखकर उनका हृदय पुत्र-प्रेम से भर आया। आँखों से अश्रुपात होने लगा। अपार स्नेह और आप्लावित नेत्रों से पुत्र को शीघ्र ही गले लगा लिया और रुंधे हुए कण्ठ से बोले — 'मेरे लाडले पुत्र! मेरे अपराध को क्षमा करो। मैं क्रोधावेश में अँधा हो गया था, इसलिए न्याय-अन्याय का निर्णय न कर सका। हे पुत्र! पश्चाताप की ज्वाला से मेरा हृदय जल रहा है, उसे अपने क्षमाजल से उपशान्त करो। मैंने धर्म का अनादर किया है, उसका मैं प्रायश्चित लेता हूँ। मुझे अपने अविवेक पर अत्यन्त खेद है।'

पिता को पश्चाताप करते हुए देखकर वारिषेण के नेत्र भर आये और वे सरल भाव से बोले —'तात! आप यह क्या कह रहे हैं? आप अपराधी कैसे? आपने तो अपना कर्तव्य पालन किया है। यदि आप पुत्र-प्रेमवश मुझे दण्ड न देते तो यह प्रजा आपको न्याय-वत्सल न कहती। आपकी नीति-परायणता को देखकर मेरा हृदय गर्वित है। आपने अपने पवित्र न्यायधर्म की लाज रखी है। मेरा अशुभकर्म का उदय ही ऐसा था, जो मुझे निरपराध होने पर भी कलङ्क का टीका लगा। **अपने किये शुभाशुभकर्म का फल तो खुद ही भोगना पड़ता है।'**

पुत्र के ऐसे पवित्र और उदार विचारों को सुनकर श्रेणिक का हृदय स्नेह से गद्गद् हो गया। वे अपना सब दुःख भूल गये।

जिस तरह सिंह को सामने देखकर हिरण भय से मुख का तृण भी छोड़ देता है, उसी तरह वारिषेण के पुण्य का प्रभाव देखकर विद्युत्चोर भी प्रभावित हुआ। उसने सोचा — 'यदि मेरा उनके चरणाग्रह में हार फेंकने का वृतान्त मालूम हो गया तो मुझे कठोर दण्ड मिलेगा और यदि मैं स्वयं जाकर सत्य-सत्य बात कह दूँ तो शायद मेरे अपराध क्षमा कर दिये जाएँगे। अत: अपने पापकर्मों का फल तो मुझे भोगना ही पड़ेगा। धिक्कार है मेरे जीवन को, जो मैंने कामान्ध होकर उस नीच वेश्या के बहकावे में आकर ऐसा अनर्थ किया।'

— ऐसा विचार कर वह विद्युत्चोर, राजा के पास पहुँचा और अति विनम्र होकर करुणाभाव से प्रार्थना करने लगा — 'महाराज! यह सब पापकर्म मेरा है, पवित्रात्मा वारिषेण सर्वथा निर्दोष हैं। पापिन वेश्या के बहकावे में आकर मैंने यह नीच कृत्य किया है। आज से मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा नीचकर्म कभी नहीं करूँगा और अपना सम्पूर्ण जीवन जिनधर्म की साधना-आराधना में ही अर्पण करूँगा। हे कृपानाथ! दयार्द्र होकर मेरे दुष्कृत्य को क्षमा कीजिये।'

राजा श्रेणिक ने विद्युत्चोर को अपने दुष्कर्म का पश्चाताप करते देखकर अभयदान दिया। **अहो! धन्य है धर्म का प्रताप!! जिसे देखकर कल का पापी महापापी चोर भी स्वयं धर्मात्मा बन गया। हे आत्मन्! इस जीव की भूल, मात्र एक समय की ही है। अनादिकाल से भूला भगवान, मात्र एक समय की भूल में भ्रमित हो रहा है। एक समय की भूल सुधारकर यही आत्मा परमात्मा बन सकता है। अहो! स्वभाव का भरोसा ही**

जीव को भव के अभाव की झंकार जगा देता है।

वारिषेण को निरपराध देखकर श्रेणिक बोले — 'पुत्र! अब शीघ्र राजमहल चलो और राजकाज के काम में मेरी मदद करो।'

लेकिन वारिषेण तो उक्त घटना को देखकर संसार से विरक्त हो चुके थे। वे माता-पिता को सम्बोधित करते हुए बोले — 'हे तात्! मुझे क्षमा करो, मैंने संसार की विचित्र-लीला बहुत देख ली, अब तो मेरा हृदय संसार-दु:ख से थक गया है। अब मैं एक क्षण भी इस मोह के कारागृह में नहीं रहना चाहता। आयु अल्प और जीवन क्षणभङ्गुर है। अब तो मेरे धर्म साधने का अवसर आया है।'

अहो, धन्य आत्मा! धन्य काल! माता की आँखों में आँसुओं की धार बह रही है, वह अश्रुपूर्ण नेत्रों से पुत्र को विदा करते हुए कहती है — 'बेटा! तेरे सुख के मार्ग में हम विघ्न नहीं करते, हमारा धन्य भाग्य! कि आज हमारा पुत्र केवलज्ञान लक्ष्मी का वरण करने के लिए जा रहा है। जा... बेटा... जा, अपने साध्य की सिद्धि कर — यह हमारा आशीर्वाद है, हमारी अनुमोदना है। हमें भी अल्पकाल में इसी पन्थ पर आना है।'

अहो! कैसा अद्भुत होगा वह वैराग्य प्रसङ्ग!! वारिषेण वैराग्य से ओत-प्रोत होकर माता-पिता से जैनेश्वरी दीक्षा की आज्ञा लेकर वन की ओर चल दिये और दीक्षा धारण कर अडोल साधनापूर्वक विचरण करने लगे। अहो! उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानो सिद्ध भगवान ही साक्षात् विचरण करते हों... वाह रे वाह... धन्य वारिषेण! धन्य मुनिदशा!! ●

(पण्डित राजकुमार शास्त्री)

4

आहारदान के संस्कार

राजा वज्रजंघ और रानी श्रीमती भोजन की तैयारी कर रहे थे कि इतने में अचानक दो गगनविहारी मुनिवर दमधर और सागरसेन वहाँ पधारे। अहा, मुनिवर पधारे मानों साक्षात् मोक्षमार्ग ही आ गया! आकाश से उतरते हुए मुनिवरों को देखकर ही राजा और मन्त्री आदि सबको हर्ष एवं आनन्दमिश्रित महाश्चर्य हुआ। अरे!

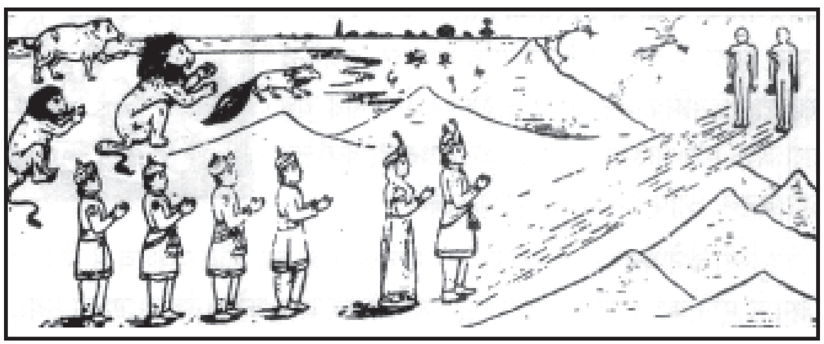

वन के सिंह, बन्दर, शूकर और नेवला जैसे पशु भी मुनिराज को देखकर हर्षित हो उठे।

उन मुनिवरों की वन में ही आहार लेने की प्रतिज्ञा थी। वे अत्यन्त तेजस्वी थे और पवित्रता से शोभायमान थे, मानों स्वर्ग और मोक्ष यहीं पृथ्वी पर उतरे आये हों। दोनों मुनिवरों को अपने

डेरे के निकट आते देख राजा-रानी ने अति आनन्द एवं भक्तिसहित उनका **पड़गाहन** किया — 'हे स्वामी! पधारो... पधारो... पधारो...।'

मुनिराजद्वय के रुकते ही वज्रजंघ और श्रीमती ने भक्तिपूर्वक उनकी प्रदक्षिणा की, नमस्कार करके सम्मान किया और योग्य विधिपूर्वक भोजनशाला में प्रवेश कराके **उच्चासन** दिया; उनके चरणों का **प्रक्षालन, पूजन** एवं **नमन** किया और पश्चात् **मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक** दाता के सात गुणसहित विशुद्धपरिणामों से मुनिवरों को **विधिपूर्वक आहारदान** दिया।

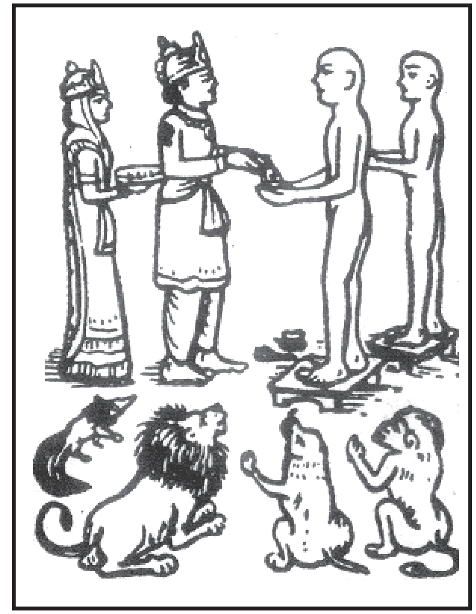

मुनिराज के आहारदान का वह भव्य प्रसङ्ग अति आनन्दकारी था। उस उत्तम आहारदान के प्रभाव से तुरन्त ही वहाँ पाँच आश्चर्यजनक घटनाएँ हुईं — (1) आकाश से रत्नवृष्टि होने लगी; (2) पुष्प वर्षा होने लगी; (3) सुगन्ध बरसने लगी; (4) दुन्दुभि आदि बाजे बजने लगे; और (5) आकाश में देवगण 'अहो दानं... महादानं' — ऐसे शब्दपूर्वक जय-जयकार करने लगे।

आहारदान के पश्चात् दोनों मुनिवरों को वन्दन और पूजन करके जब वज्रजंघ उन्हें विदा करने लगे, तब अन्त:पुर की दासी

ने कहा — 'राजन्! यह दोनों मुनिवर आपके सबसे छोटे पुत्र युगल ही हैं।'

यह सुनकर वज्रजंघ और श्रीमती अति प्रेमपूर्वक उनके निकट गये और उनसे धर्म श्रवण किया। फिर वज्रजंघ ने अपने और श्रीमती के पूर्वभव पूछे। मुनिवरों ने दोनों के पूर्वभव का वर्णन किया। तत्पश्चात् वज्रजंघ ने पुनः पूछा — 'हे नाथ! मतिवर मन्त्री, आनन्द पुरोहित, धनमित्र सेठ और अकम्पन सेनापति — ये चारों जीव मुझे भाई की तरह अत्यन्त प्रिय हैं; इसलिए कृपा करके आप उनके भी पूर्वभव कहें।'

मुनिराज ने कहा — "हे राजन्! मतिवर मन्त्री का जीव पूर्वभव में सिंह था। एक बार प्रीतिवर्धन राजा ने वन में मुनि को आहारदान दिया, उसे देखकर सिंह को जातिस्मरण हो गया, जिससे वह बिल्कुल शान्त हो गया और आहारादि का त्याग करके एक शिला पर जा बैठा। मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा यह जानकर प्रीतिवर्धन राजा से कहा — 'हे राजन्! यह सिंह, श्रावक के व्रत धारण करके संन्यास ले रहा है, तुम्हें इसकी सेवा करना योग्य है; भविष्य में यह भरतक्षेत्र के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का पुत्र होगा और चक्रवर्ती होकर

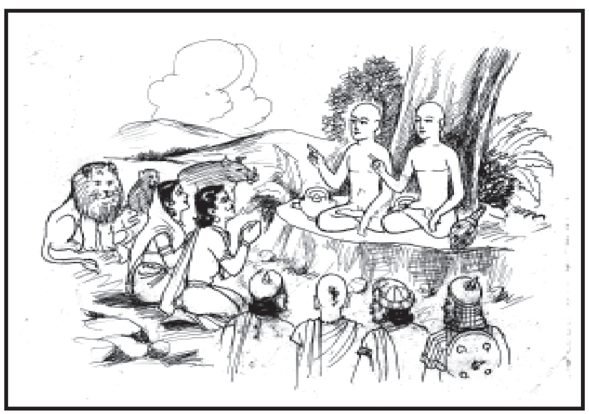

उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा'। मुनिराज की बात सुनकर राजा ने सिंह को प्रेम से देखा और उसके कान में नमस्कार मन्त्र सुनाया। अठारह दिन की सल्लेखना के पश्चात् शरीर का त्याग करके वह सिंह दूसरे स्वर्ग का देव हुआ और वहाँ से चलकर यह मतिवर मन्त्री हुआ है।

इस सिंह के अतिरिक्त प्रीतिवर्धन राजा के सेनापति, मन्त्री और पुरोहित — इन तीनों ने भी आहारदान का अनुमोदन किया था, इसलिए ये भोगभूमि में जन्म लेने के बाद में दूसरे स्वर्ग के देव हुए। तुम्हारी ललिताङ्गदेव की पर्याय में वे तीनों तुम्हारे ही परिवार के देव थे और वे ही यहाँ तुम्हारे पुरोहित, सेठ और सेनापति हुए हैं। भविष्य में तुम जब तीर्थङ्कर होओगे, तब वे भी तुम्हारे पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। उनमें से अकम्पन सेनापति तो बाहुबली तथा आनन्द पुरोहित और धनमित्र सेठ वृषभसेन और अनन्तविजय नामक तुम्हारे पुत्र होकर, तुम्हारे ही गणधर होंगे।"

मुनिराज के श्रीमुख से अपना-अपना ऐसा महान भविष्य सुनकर उन सबको बड़ा हर्ष हुआ। जब वे मुनिवर यह सब वृत्तान्त कह रहे थे, तब नेवला, सिंह, बन्दर और शूकर — ये चारों जीव वहीं समीप बैठे थे और शान्तिपूर्वक मुनिराज की ओर टकटकी लगाये देख रहे थे। यह देखकर आश्चर्य से वज्रजंघ ने पूछा — 'हे स्वामी! यह नेवला, सिंह, बन्दर और शूकर, चारों जीव यहाँ मनुष्यों के बीच भी निर्भयता से आपके मुखकमल की ओर दृष्टि लगाकर क्यों बैठे हैं?'

उत्तर में मुनिराज ने कहा — 'हे राजन्! सुनो, यह सिंह आदि चारों जीव आहारदान देखकर परम हर्षित हो रहे हैं; ये भी भविष्य में तुम्हारे पुत्र होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे। यह सिंह पूर्वभव में हस्तिनापुर में एक व्यापारी का पुत्र था, परन्तु तीव्र क्रोध के कारण मरकर सिंह हुआ है। यह शूकर पूर्वभव में एक राजपुत्र था, परन्तु तीव्र मान के कारण वह मरकर शूकर हुआ है। यह बन्दर पूर्वभव में वणिक्पुत्र था, परन्तु तीव्र माया के कारण मरकर बन्दर हुआ है और यह नेवला पूर्वभव में एक हलवाई था, परन्तु तीव्र लोभ के कारण मरकर नेवला हुआ है। चारों कषायों के फलस्वरूप इन्हें ऐसी हलकी गतियाँ प्राप्त हुई हैं; इसलिए इन कषायों को छोड़ना योग्य है।

इस समय यह सिंहादि चारों जीव आहारदान देखकर अति हर्षित हुए हैं और इन चारों को अपने पूर्वभव का जातिस्मरण हुआ है; इसलिए वे संसार से एकदम विरक्त हो गये हैं और निर्भय होकर धर्मश्रवण की इच्छा से यहाँ बैठे हैं। तुम दोनों ने आहारदान के फल में भोगभूमि की आयु का बन्ध किया है और इन सिंहादि चारों जीवों ने भी आहारदान का अनुमोदन करके तुम्हारे साथ ही भोगभूमि की आयु बाँधी है। हे राजन्! अब यहाँ से आठवें भव में जब तुम ऋषभदेव तीर्थङ्कर होकर मोक्ष प्राप्त करोगे, तब ये चारों जीव भी उसी भव में मोक्ष को प्राप्त होंगे। मोक्ष तक के सातों भवों में ये सब जीव तुम्हारे साथ ही रहेंगे। यह श्रीमती का जीव भी तुम्हारे साथ में दानतीर्थ की प्रवृत्ति चलानेवाले श्रेयांस राजा होंगे और उसी भव में मोक्ष प्राप्त करेंगे।'

आकाशगामी चारणऋद्धिधारी मुनिवरों के ऐसे वचन सुनकर राजा वज्रजंघ का मन हर्ष से रोमाञ्चित हो गया तथा श्रीमती रानी, मतिवर आदि एवं सिंह आदि चारों जीवों को भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। उन सबने मुनिवरों के चरणों में बारम्बार नमन किया। तत्पश्चात् आकाश ही जिनके वस्त्र हैं — ऐसे वे निःस्पृह मुनिवर आकाशमार्ग से अन्यत्र विहार कर गये।

मुनिवरों के विहार कर जाने के पश्चात् राजा वज्रजंघ आदि अपने डेरे में लौट आये और उन्होंने सारा दिन सरोवर के किनारे उन मुनिवरों के गुणों का ध्यान तथा उनकी चर्चा करने में बिताया। पश्चात् प्रयाण करते-करते वे पुण्डरीकिणी नगरी आ पहुँचे और वहाँ कुछ काल रहकर अपने भानजे को पुण्डरीक का राज्य सुव्यवस्थित करके उत्पलखेटक नगरी लौट आये।

वज्रजंघ और श्रीमती का दीर्घकाल विविध भोग-विलास में व्यतीत हो गया। आयु पूर्ण होने का समय निकट आ चुका है, उसका भी उन्हें ध्यान नहीं रहा। एक बार वे शयनगृह में सो रहे थे, अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ सुलग रहे थे कि अचानक बन्द शयनागार में धुएँ से उनका दम घुटने लगा और कुछ ही देर में मूर्च्छित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए।

ऋषभमुनि का हस्तिनापुर में प्रथम पारणा

अचिन्त्य महिमावन्त मुनिराज ऋषभदेव का छह मास का ध्यान-योग समाप्त हुआ, तब उन्होंने विचार किया कि बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए इन नवदीक्षित साधुओं को मुनिमार्ग की आहारादि विधियों का ज्ञान न होने से क्षुधा के कारण ये मार्गभ्रष्ट

हो गये हैं। इसलिए मोक्षमार्ग क्या है? सुखपूर्वक मोक्ष की सिद्धि कैसे होती है और संयम की स्थिति हेतु निर्दोष आहार लेने की विधि क्या है? यह प्रगट करने की आवश्यकता है। ऐसा विचारकर निर्दोष आहार की प्रवृत्ति हेतु वे मुनिराज विहार करने लगे।

मुनिराज जहाँ-जहाँ पधारते, वहाँ के लोग प्रसन्नता से आश्चर्यचकित होकर नमन करते और पूछते कि — 'हे देव! कहिये क्या आज्ञा है? आप जिस कार्य हेतु यहाँ पधारे हैं, वह हमें बतलाइये — आज्ञा दीजिये।'

अनेक लोग तो हाथी, रथ, वस्त्राभूषण, रत्न तथा भोजनादि सामग्री मुनिराज को अर्पण करने के लिए लाते तो कोई अपनी युवा कन्या का विवाह मुनिराज से करने की इच्छा प्रगट करते। अरे रे! कैसा अज्ञान और कैसी मूर्खता! मुनिराज चुपचाप चले जाते। वे किसलिए पधारे हैं और क्या करना चाहिए? यह नहीं समझ पाने से लोग दिग्मूढ़ होकर कुछ तो अश्रुपूरित नेत्रों से मुनिराज के चरणों में लिपट जाते। इस प्रकार अनेक नगरों तथा ग्रामों में विहार करते-करते छह महीने से अधिक समय और निराहार बीत गया।

एक दिन विहार करते हुए मुनिराज ऋषभदेव कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर में पहुँचे। उस समय वहाँ के राजा सोमप्रभ और उनके लघु-भ्राता श्रेयांसकुमार थे। आठ भव पूर्व आहारदान के समय जो 'श्रीमती' थी, वही यह श्रेयांसकुमार हैं। मुनिराज जिस दिन हस्तिनापुर पधारनेवाले थे, उसी दिन रात्रि के पिछले प्रहर में श्रेयांसकुमार ने पूर्व संस्कार के बल से, पूर्व सूचनारूप सात

उत्तम स्वप्न देखे — ऊँचा सुमेरु पर्वत, सुशोभित कल्पवृक्ष, केसरी सिंह, वृषभ, सूर्य-चन्द्र, रत्नों से भरा समुद्र और अष्ट मङ्गलसहित देव। अपने आँगन में मुनिराज का पदार्पण होगा — सात मङ्गल स्वप्नों का ऐसा फल जानकर श्रेयांसकुमार का चित्त अतिप्रसन्न हुआ।

प्रभात होते ही दोनों भाई उस स्वप्न की बात और मुनिराज ऋषभदेव का गुणगान कर रहे थे कि इतने में योगीराज मुनिराज ने हस्तिनापुर में प्रवेश किया। मुनिराज के आगमन से आनन्दित होकर चारों ओर से नगरजनों का समूह मुनिराज के दर्शन करने उमड़ पड़ा। भोले-भाले लोग कहते थे — 'मुनिराज फिर से हमारी रक्षा करने पधारे हैं। ऋषभदेव जगत के पितामह हैं — ऐसा सुना था, उन जगत्पिता को आज प्रत्यक्ष देखा।' मुनिराज के आगमन की बात सुनकर नगरजन भोजनादि कार्य छोड़कर शीघ्रातिशीघ्र दर्शन करने के लिए निकल पड़े। जब सारे नगर में ऐसा हर्षमय कोलाहल हो रहा था, तब भी मुनिराज तो अपने संवेग और वैराग्य की सिद्धि के लिए वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते-करते अपनी आत्मा की धुन में लीन होकर चले आ रहे थे। अहो! ऐसी राग-द्वेषरहित समतावृत्ति को धारण करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।

मुनिराज ऋषभदेव राजमहल के सामने पधार रहे हैं — यह जानकर 'सिद्धार्थ' नामक द्वारपाल ने तुरन्त ही राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांसकुमार को बधाई दी — 'मुनिराज ऋषभदेव अपने आँगन की ओर पदार्पण कर रहे हैं।'

— यह सुनते ही दोनों भाई मन्त्री आदि सहित खड़े हुए और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक राजमहल के प्राङ्गण में आकर दूर से ही मुनिराज के चरणों में भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया। मुनिराज के पधारते ही सम्मानसहित पादप्रक्षालन करके अर्घ्य चढ़ाकर पूजा और प्रदक्षिणा दी। अहो, अपने आँगन में ऐसे निधान को देखकर उन्हें अति सन्तोष हुआ। मुनिराज के दर्शन से दोनों भाई हर्षोल्लास से रोमाञ्चित हो गये। आनन्द एवं भक्ति से नम्रीभूत वे दोनों भाई इन्द्र के समान सुशोभित हो रहे थे।

जिस प्रकार निषध और नील पर्वतों के बीच उन्नत मेरुपर्वत शोभता है; उसी प्रकार श्रेयांसकुमार और सोमप्रभ के बीच मुनिराज ऋषभदेव शोभायमान हो रहे थे। मुनिराज का रूप देखते ही श्रेयांसकुमार को जातिस्मरण हुआ और पूर्वभव के संस्कार के कारण मुनिराज को आहारदान देने की बुद्धि प्रगट हुई। पूर्व के वज्रजंघ एवं श्रीमती के भव का सारा वृतान्त उन्हें स्मरण हो आया।

उस पूर्वभव में उन्होंने सरोवर के किनारे दो मुनिवरों को आहारदान दिया था, वह याद आया। प्रभात का यह समय मुनियों को आहारदान देने का उत्तम समय है — ऐसा निश्चय करके उन पवित्र बुद्धिमान श्रेयांसकुमार ने नवधाभक्तिपूर्वक ऋषभ मुनिराज को इक्षुरस का आहारदान किया।

इस प्रकार ऋषभ मुनिराज को सर्व प्रथम आहारदान देकर उन्होंने इस चौबीसी में दानतीर्थ का प्रारम्भ किया। उन्होंने नवधाभक्ति और श्रद्धादि सात गुणोंसहित दान दिया। मोक्ष के साधक धर्मात्मा के गुणों के प्रति आदरपूर्वक श्रद्धासहित जो दाता उत्तम दान देता है, वह मोक्षप्राप्ति के लिए तत्पर होता है। अतिशय इष्ट एवं सर्वोत्तम पात्र ऐसे मुनिराज को श्रेयांसकुमार ने पूर्वभव के संस्कार से प्रेरित होकर नवधाभक्ति से प्रासुक आहारदान दिया। श्रीऋषभ मुनिराज खड़े-खड़े अपने करपात्र में ही भोजन ले रहे थे। मोक्षमार्ग के साधक मुनिराज को हाथों की अञ्जुलि में श्रेयांसकुमार आदि ने गन्ने के प्रासुक रस का आहार दिया। वह दिन था वैशाख शुक्ला तृतीया, जो बाद में **अक्षयतृतीया** के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उस समय देवगण आकाश से रत्नवृष्टि तथा पुष्पवृष्टि करने लगे। देवों के बाजे गम्भीर नाद से बजने लगे, सुगन्धित वायु बहने लगी और देवगण हर्षित होकर 'धन्य दान... धन्य पात्र... धन्य दाता...' — ऐसी आकाशवाणी करने लगे। अहा, दान की अनुमोदना करके वे लोग भी महापुण्य को प्राप्त हुए।

यहाँ कोई आशङ्का करे कि मात्र अनुमोदना करने से पुण्य की प्राप्ति किस प्रकार होगी ? उसका समाधान यह है कि पुण्य और पाप का बन्ध होने में जीव के परिणाममात्र ही कारण हैं; बाह्य कारणों को तो जिनेन्द्रदेव ने 'कारण का कारण' अर्थात् निमित्त कहा है। जब पुण्य के साधनरूप से जीवों के शुभपरिणाम ही प्रधान कारण हैं, तब शुभकार्य

की अनुमोदना करनेवाले जीवों को भी शुभ फल की प्राप्ति अवश्य होती है।

रत्नत्रयधारी मुनिराज अपने गृह में पधारे और उन्हें आहारदान दिया, उससे दोनों भाई परम हर्षित हुए और अपने को कृतकृत्य मानने लगे। इस प्रकार मुनियों को आहारदान की विधि प्रसिद्ध करके तथा दोनों भाइयों को प्रसन्न करके मुनिराज पुनः वन की ओर चल दिये।

कुछ दूर तक दोनों भाई भक्ति-भीगे चित्त से मुनिराज के पीछे-पीछे गये और फिर रुकते-रुकते लौटने लगे। दोनों भाई बारम्बार मुड़-मुड़कर निरपेक्षरूप से वन की ओर जाते हुए मुनिराज को पुनः पुनः देख रहे थे। वे दूर तक जाते हुए मुनिराज की ओर लगी हुई अपनी दृष्टि को तथा चित्तवृत्ति को मोड़ नहीं पाये। वे बारम्बार मुनिराज की कथा एवं उनके गुणों की स्तुति कर रहे थे और धरती पर पड़े हुए मुनिराज के चरण चिह्नों को बारम्बार प्रेम से निहारकर नमस्कार करते थे।

नगरजन इन दोनों भाइयों को देखकर कहते कि राजा सोमप्रभ महाभाग्यवान हैं कि उन्हें ऐसा श्रेष्ठ भाई मिला है। रत्नवृष्टि से चारों ओर बिखरे पड़े रत्नों को नगरजन इकट्ठे कर रहे थे। रत्नरूपी पाषाणों से भरे हुए आँगन को कठिनाई से पार करते हुए दोनों भाई राजमहल में आये।

मुनिराज ऋषभदेव को प्रथम आहारदान (पारणा) कराने से श्रेयांसकुमार का यश सारे जगत में फैल गया। मुनि को दान देने की विधि सर्व प्रथम राजा श्रेयांस ने जानी थी, तभी से दानमार्ग का

प्रारम्भ हुआ। आहारदान की यह बात जानकर राजा भरत आदि को भी महान आश्चर्य हुआ; वे आश्चर्य से सोचने लगे कि मौन धारण किये हुए मुनिराज का अभिप्राय उन्होंने कैसे जान लिया? देवों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ और आनन्दित होकर उन्होंने श्रेयांसकुमार का सम्मान किया।

महाराज भरत ने भी स्वयं अयोध्या से हस्तिनापुर आकर श्रेयांसकुमार का सम्मान किया और अतिशय हर्ष व्यक्त करते हुए पूछा — 'हे महादानपति! यह तो बतलाइये कि मुनिराज के मन की बात आपने कैसे जान ली? इस भरतक्षेत्र में पहले कभी नहीं देखी गयी, ऐसी यह दान की विधि आपने न बतलायी होती तो इसे कौन जान पाता! हे कुरुराजा! आज आप हमारे लिए गुरु समान पूज्य बने हैं, आप दानतीर्थ के प्रवर्तक हैं, महापुण्यवान हैं; इस दान की पूरी बात हमें बतलाइये।'

तब श्रेयांसकुमार कहने लगे — 'हे राजन्! यह सब मैंने उस पूर्वभव के स्मरण से जाना, जब मैं मुनिराज के साथ था। जिस प्रकार रोग दूर करनेवाली उत्तम औषधि प्राप्त करके मनुष्य प्रसन्न होता है और तृषातुर व्यक्ति पानी से भरा हुआ सरोवर देखकर आनन्दित होता है; उसी प्रकार मुनिराज का उत्कृष्टरूप देखकर मैं अत्यन्त हर्ष-विभोर हो गया था और उसी समय मुझे जातिस्मरण होने से मैंने मुनिराज का अभिप्राय जान लिया।

आठ भव पूर्व जब मुनिराज विदेहक्षेत्र में पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रजंघ राजा थे, तब मैं उनकी श्रीमती नामक रानी था और तब राजा के साथ मैंने दो चारणऋद्धिधारी मुनियों को आहारदान

दिया था; उन संस्कारों का स्मरण होने से मैंने आज भी उसी विधि से मुनिराज को आहारदान दिया। विशुद्धतासहित मुनिवरों को आहारदान देने का अवसर महान भाग्य से प्राप्त होता है।'

राजा श्रेयांस के श्रेयस्कारी वचन सुनकर भरत राजा को अत्यन्त प्रीति उत्पन्न हुई और उन्होंने अति हर्षपूर्वक राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांसकुमार का सम्मान किया। पश्चात् परमगुरु ऋषभदेव के गुणों का चिन्तन करते-करते वे अयोध्यापुरी लौटे। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

देहातीत होती है मुनिराज की दशा

जिन्हें अशरीरी ज्ञायक भगवान आत्मा की दृष्टि-ज्ञान और रमणता वर्त रही है - ऐसे निर्ग्रन्थ मुनिराज को 'मात्र देह, वह संयम हेतु होय जब' अर्थात् संयम के निमित्तभूत शरीर है परन्तु शरीर की कुछ पड़ी नहीं है; देहातीत जैसी दशा हो गयी है - ऐसी साधनामग्नदशा की भावना सम्यग्दृष्टि को होती है। श्रावक भी संयम के मनोरथ का सेवन करता है।

अहा! मुनिराज को देह है परन्तु देह की कोई दरकार नहीं है। एक निजात्म-साधना के अतिरिक्त अन्य किसी की उन्हें कुछ पड़ी नहीं है। संघ, शिष्य अथवा संस्था की तो नहीं, परन्तु कदाचित् संयम के हेतुभूत ऐसे शरीर की भी कुछ नहीं पड़ी है। देह होने पर भी जिनकी दशा देहातीत वर्तती है - ऐसी सहजदशा हो जाती है। *(- वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/115)*

5

आत्मसाधक वीर गजसुकुमार

देवकी माता के आठवें पुत्र श्रीगजसुकुमार, श्रीकृष्ण के छोटे भाई और श्रीनेमिप्रभु के चचेरे भाई थे। उनका रूप अत्यन्त सुन्दर था। लोक में उन्हें जो भी देखता, मुग्ध हो जाता। जब श्रीनेमिनाथ प्रभु केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थङ्कर रूप में विचरते थे, यह उसी समय की बात है।

श्रीकृष्ण ने अनेक राजकन्याओं के साथ-साथ सोमिल सेठ की पुत्री सोमा के साथ भी गजसुकुमार के विवाह की तैयारी की थी। इसी समय विहार करते-करते श्रीनेमिनाथ तीर्थङ्कर का समवसरण द्वारिकानगरी आया। जिनराज के पधारने से सभी उनके दर्शन के लिए गये। नेमिप्रभु को देखते ही गजसुकुमार को उत्तम भाव जागा —

'अहो! ये तो मेरे भाई!! तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव!! मुझे मोक्ष ले जाने के लिए पधारे हैं।'

नेमिनाथ प्रभु के दर्शन से गजसुकुमार अत्यन्त प्रसन्न हुए। प्रभु के श्रीमुख से तीर्थङ्करादि का पावन चरित्र सुना। अहो! यह नेमिनाथ की वाणी! विवाह के समय ही वैराग्य प्राप्त करनेवाले

नेमिप्रभु की वीतरागरस से सराबोर वाणी में संसार की असारता और आत्मतत्त्व की परम महिमा सुनकर गजसुकुमार का हृदय वैराग्य से ओतप्रोत हो गया, वे विषयों से विरक्त हुए —

'अरे रे! मैं अभी तक संसार के विषय-भोगों में डूबा रहा और अपनी मोक्षसाधना से चूक गया। अब, मैं आज ही दीक्षा लेकर, उत्तम प्रतिमायोग धारण करके मोक्ष की साधना करूँगा।'

— इस प्रकार निश्चय करके उन्होंने तुरन्त ही माता-पिता, राज-पाट तथा राजकन्याओं को छोड़कर जिनेन्द्रदेव के धर्म की शरण ले ली। संसार से भयभीत, मोक्ष के लिए उत्सुक और प्रभु के परमभक्त उन वैरागी गजसुकुमार ने भगवान नेमिनाथ की आज्ञापूर्वक दिगम्बरी दीक्षा धारण की। उनकी अनन्त आत्मशक्ति जागृत हो गयी। मुनि गजसुकुमार, चैतन्य के ध्यान में तल्लीनतापूर्वक महान तप करने लगे।

उनके साथ जिनकी सगाई हुई थी, उन राजकन्याओं को उनके माता-पिता ने बहुत समझाया कि अभी तुम्हारा विवाह नहीं हुआ, इसलिए तुम अन्यत्र अपना विवाह करा लो, लेकिन उन उत्तम संस्कारी कन्याओं ने दृढ़तापूर्वक कहा —

'नहीं, पिताजी! मन से एक बार जिसे पतिरूप में स्वीकार कर लिया, उनके अलावा अब कहीं दूसरी जगह हम विवाह नहीं करेंगीं। जिस कल्याणमार्ग पर वे गये हैं, उसी कल्याणमार्ग पर हम भी जाएँगीं। उनके प्रताप से हमें भी आत्महित करने का अवसर मिला है।'

इस प्रकार वे राजकन्याएँ भी संसार से वैराग्य प्राप्त कर, दीक्षा

लेकर आर्यिका बनी। अहो! धन्य आर्य संस्कार!!

मुनिराज गजसुकुमार श्मशान में जाकर अति उग्र पुरुषार्थपूर्वक ध्यान कर रहे थे। इसी समय सोमिल सेठ वहाँ आया।

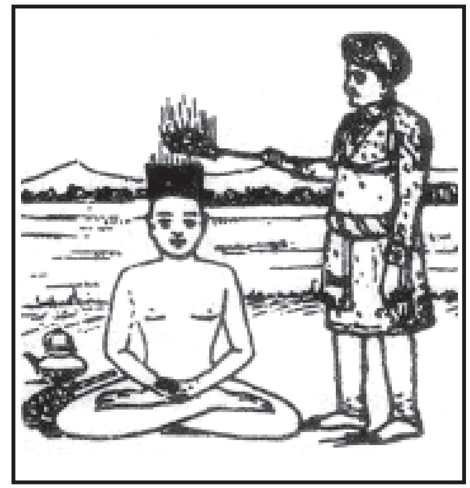

'मेरी पुत्री को इसी गजसुकुमार ने तड़फाया है।' — ऐसा विचारकर वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। 'साधु होना था तो फिर मेरी पुत्री के साथ सगाई क्यों की? दुष्ट! तुझे मैं अभी मजा चखाता हूँ।' — इस प्रकार क्रोधपूर्वक उसने गजसुकुमारस्वामी मुनिराज के मस्तक पर मिट्टी की पाल बाँधकर, उसमें अग्नि जलायी। मुनिराज का मस्तक जलने लगा, साथ ही उनका अत्यन्त कोमल शरीर भी धू-धू करके जलने लगा। फिर उस दुष्ट ने मार-मार कर उन मुनिराज के शरीर को कीलों से चलनी के समान कर डाला।

इस प्रकार मुनिराज पर घोर उपसर्ग होने पर भी वे घोर पराक्रमी वीर गजसुकुमारस्वामी मुनिराज ध्यान से नहीं डिगे। बाहर में अग्नि से माथा जल रहा था और अन्दर में ध्यानाग्नि से कर्म जल रहे थे।

वे धीर-वीर गम्भीर मुनिराज तो स्वरूप की मस्ती में मस्त, अडोल प्रतिमायोग धारण करके बैठे हैं। बाहर में मस्तक भले ही

अग्नि में जल रहा हो, परन्तु अन्दर आत्मा तो चैतन्य के परम शान्तरस से ओतप्रोत है। शरीर जल रहा है, फिर भी आत्मा स्थिर है क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न हैं। जड़ और चेतन के भेदविज्ञान द्वारा चैतन्य की शान्ति में स्थित होकर, घोर उपसर्ग-परीषह सहनेवाले मुनिराज ने जिस दिन दीक्षा ली, उसी दिन शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों को भस्म कर केवलज्ञान और फिर मोक्ष प्राप्त किया? वे **अन्तःकृत केवली** कहलाये, उनके केवलज्ञान और निर्वाण दोनों ही महोत्सव, देवों ने एक साथ मनाये।

एकाएक राजपुत्र गजसुकुमार के दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष की बात सुनकर, समुद्रविजय महाराज आदि नौ भाईयों ने संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा धारण कर ली। श्रीनेमिप्रभु की माताजी शिवादेवी आदि ने भी दीक्षा ले ली। उसके बाद अनेक वर्षों तक विहार करते हुए श्रीनेमिप्रभु पुनः सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत पर पधारे।

आत्मसाधना के लिए गजसुकुमारस्वामी के इस उग्र पुरुषार्थ का प्रसङ्ग 19वीं सदी में जन्मे क्रान्तिकारी युगपुरुष श्रीकानजीस्वामी को बहुत प्रिय था। वे यदा-कदा प्रवचन में उसका भावभीना वर्णन करके, साधक को अति उग्रपुरुषार्थ का स्वरूप समझाते थे, तब मुमुक्षु जीव भी चैतन्य के पुरुषार्थ से आप्लावित हो जाते और मोक्ष के इस अडोल अप्रतिहतसाधक के प्रति उनका हृदय उल्लास से नम्रीभूत हुए बिना नहीं रहता। अहो! जिसने पुरुषार्थ के द्वारा आत्मसाधना की है, उसे जगत का कोई भी प्रसङ्ग रोक नहीं सकता। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

6

माता और डाकू के प्रति समभावी

वीतरागी मुनि नागकुमार

किसी समय मगध राज्य की राजधानी राजगृही में प्रजापाल राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रियधर्मा था। उन दोनों के प्रियमित्र और प्रियधर्म नाम के दो पुत्र थे। कुछ समय पश्चात् दोनों भाईयों ने वैराग्य प्राप्त करके जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली और घोर तपश्चर्यापूर्वक, समाधिमरण करके अच्युत स्वर्ग में देव हुए। स्वर्ग में जाकर दोनों देवों ने प्रतिज्ञा की कि अपने में से जो पहले मनुष्यभव में जन्म लेगा, उसे स्वर्ग में रहा हुआ दूसरा देव सम्बोधन करके मोक्षप्रदायिनी जिनदीक्षा ग्रहण कराएगा।

दोनों में से प्रथम प्रियमित्र ने स्वर्ग से चयकर उज्जैनी नगरी के राजा नागधर्म के घर, उनकी रानी नागदत्ता के उदर से नागदत्त पुत्र के रूप में जन्म लिया। नागदत्त को नाग / सर्प के साथ क्रीड़ा करने का शौक था; जिससे अन्य लोग आश्चर्यचकित होते थे। एक दिन स्वर्ग में रहनेवाले प्रियधर्म देव को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हुआ। तब वह स्वर्ग का देव मदारी का वेष धारण करके, दो भयङ्कर सर्पों को लेकर उज्जैनी नगरी में आया और नगर में सर्पों का खेल

दिखाने लगा। जब कुमार नागदत्त को मदारी सम्बन्धी समाचार मिले तो उसने तुरन्त मदारी को राजदरबार में बुलाया। घमण्ड में आकर कुमार ने मदारी से कहा — 'तेरे जहरीले सर्प बता, मैं उनके साथ क्रीड़ा करना चाहता हूँ। देखूँ तो, कैसे जहरीले नाग हैं।'

कुमार की अभिमानपूर्ण बात सुनकर मदारी ने कहा — 'हे राजकुमार! मैं आपके साथ ऐसा मजाक नहीं कर सकता, जिसमें प्राण जाने का भय हो। कुमार! मान लो यदि नाग आपको काट ले और आपकी मृत्यु हो जाए तो राजा मुझे तो प्राणदण्ड ही देंगे न।'

कुमार ने कहा — 'नहीं-नहीं! मैं तुम्हें राजा से अभयदान दिलाता हूँ।'

ऐसा कहकर कुमार मदारी को राजा के पास ले गया और राजा ने कुमार की इच्छानुसार मदारी को अभयदान का वचन दे दिया। मदारी ने एक साधारण सर्प निकाला। कुमार नागदत्त ने उससे क्रीड़ा करके उसे तुरन्त हरा दिया और मदारी से कहा — 'तेरे पास दूसरा जहरीला नाग हो तो निकाल।'

मदारी ने कहा — 'मेरे पास एक दूसरा भयङ्कर नाग है, किन्तु उसकी फुफकार से ही लोगों को चक्कर आने लगेंगे।'

कुमार ने कहा — 'तेरे पास कैसा भी भयङ्कर जहरीला नाग क्यों न हो, उसे निकाल; मेरे पास ऐसी जड़ी-बूटी है कि मुझ पर भयङ्कर नाग का जहर भी नहीं चढ़ सकता; अत: तू निर्भय होकर अपने नाग को बाहर निकाल।'

मदारी ने भयङ्कर नाग को बाहर निकाला। उसकी फुफकार से ही लोगों को चक्कर आने लगे। नागदत्त उसके साथ क्रीड़ा करने लगा, इतने में नाग ने उसे डस लिया और कुमार को तुरन्त जहर चढ़ गया, जिससे लोगों में हाहाकार मच गया। अनेक मन्त्र-तन्त्रवादियों को बुलाया गया, परन्तु कोई भी जहर उतारने में सफल नहीं हुआ।

राजा ने घबराकर मदारी से कहा — 'हे मदारी! तेरे पास कोई मन्त्र आदि हो तो तू राजकुमार का जहर उतार।'

मदारी बोला — 'मैं प्रयत्न करके देखता हूँ परन्तु मेरी एक शर्त है कि यदि राजकुमार बच जाए तो आपको इसे मोक्षप्रदायिनी जिनदीक्षा लेने की अनुमति देनी पड़ेगी।'

घबराकर राजा ने कहा — 'यदि कुमार बच जाए तो मैं उसे जिनदीक्षा लेने की आज्ञा दे दूँगा।'

मदारी ने मन्त्र पढ़कर जहर उतार दिया और कुमार सचेत हो गया। पिता ने कुमार से जिनदीक्षा की आज्ञा के वचन सम्बन्धी

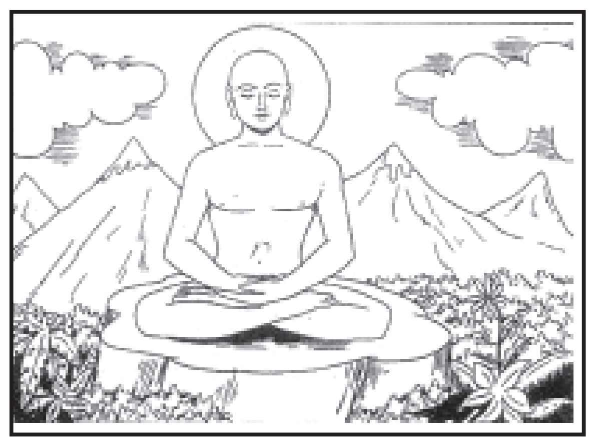

बात कही। कुमार, जिनदीक्षा लेने की बात सुनकर अति प्रसन्न हुआ। तब मदारी ने अपना देव का रूप प्रगट करके, स्वर्ग में दोनों मित्रों के बीच

हुई प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाया। जिसे सुनकर नागदत्त ने अत्यन्त प्रसन्न होकर देव का उपकार माना और यमधर मुनिराज के समीप जिनदीक्षा धारण कर ली। नागदत्तमुनि कठिन तपश्या करने लगे और जिनकल्पी एकलविहारी मुनि हुए।

एक दिन यात्रा के लिए निकलते हुए रास्ते में भयङ्कर जङ्गल आया। जङ्गल में डाकुओं का विशाल अड्डा था। डाकुओं ने मुनि को वहाँ देखा तो उन्हें लगा कि यदि यह मुनि किसी को बता देंगे तो हमारा गुप्त स्थान प्रसिद्ध हो जाएगा — ऐसा विचारकर वे डाकू मुनि नागदत्त को अपने सरदार के पास पकड़कर ले गये। डाकू सरदार ने मुनि को देखते ही कहा — 'तुम मुनिराज को पकड़कर क्यों लाये हो? ये तो शत्रु-मित्र के प्रति समभावी होते हैं। शीघ्र ही इनको छोड़ दो।'

डाकुओं ने तुरन्त ही मुनिराज को छोड़ दिया। मुनिराज वहाँ से चल पड़े। इतने में उन नागदत्त मुनि की माता नागदत्ता कितने ही अङ्गरक्षकों के साथ अपनी पुत्री का विवाह कौशाम्बी के सेठ जिनदत्त के पुत्र धनपाल के साथ करने के लिए रास्ते में जाते हुए मिली। उसने वन्दन करके मुनि से सुख-साता पूछी और पूछा — 'हे प्रभु! आगे का मार्ग भयरहित तो है न?' मुनिराज उसका कोई भी उत्तर दिये बिना आगे चले गये।

नागदत्ता पुत्री को लेकर आगे गयी, तभी डाकू ने आकर हमला करके नागदत्ता को लूट लिया तथा माँ-बेटी को पकड़कर अपने सरदार के पास ले जाकर उससे कहा — 'हे सरदार! उन मुनिराज को छोड़कर हम जङ्गल में इधर-उधर घूम रहे थे, वहाँ

हमने देखा कि इन माँ-बेटी ने मुनिराज के दर्शन किये और इस तरफ आगे बढ़ीं तो भी उन मुनिराज ने यह नहीं कहा कि इस ओर डाकू बसते हैं। हम राजकन्या, जवाहरात आदि देखकर, उन्हें लूटकर आपके लिए यह राजकन्या पकड़कर लाये हैं।'

तब डाकू सरदार ने कहा — 'देखो! मैंने कहा था न कि मुनि तो सर्व जीवों के प्रति समभावी होते हैं। मुनिराज के दर्शन करनेवाली इस माता-पुत्री को भी उन्होंने यह नहीं कहा कि आगे डाकुओं का भय है क्योंकि अपनी आत्मा के आनन्द में मस्त वीतरागी सन्तों को डाकू हो या मित्र, सबके प्रति समभाव वर्तता है।'

मुनिराज की प्रशंसा सुनकर, मुनिराज की माता नागदत्ता बहुत क्रोधित हुई — 'अरे! मैंने पुत्र से दर्शन करके पूछा था कि आगे मार्ग में भय तो नहीं है न? तथापि उसने मुझसे भी बात नहीं की और हमें मौत के मुँह में ढकेल दिया। धिक्कार है ऐसे निष्ठुर-निर्दय पुत्र को जिसे मैंने जन्म दिया। इसकी अपेक्षा तो मेरे पुत्र ही नहीं होता तो ठीक था...' इत्यादि कल्पनाएँ करके वह अपने पेट में तलवार मारने को तैयार हुई।

यह देखकर डाकू सरदार गद्गद् होकर माता नागदत्ता के पैरों में गिर कर कहने लगा — 'माता! आप मात्र नागदत्त मुनि की ही माता नहीं, बल्कि हमारी भी माता हैं। हे माता! आप धन्य हैं कि आपने ऐसे उत्तम मुनिराज को जन्म दिया।' — ऐसा कहकर डाकू सरदार ने लूटा हुआ धन और राजकन्या माता को सौंपकर क्षमा माँगी।

अहो! डाकू भी मुनिराज नागदत्त के वीतरागी साम्यभाव की महिमा करते हैं। धन्य हैं वे नागदत्त मुनिराज और धन्य है उनकी मुनिदशा! देखो तो सही! अपनी माता के पूछने पर भी उन्हें सावधान भी नहीं करते कि आगे डाकू हैं। चैतन्यस्वरूप में झूलते हुए वीतरागी निर्लेप मुनिराज के लिए तो माता हो या डाकू, सहज ही किसी के प्रति राग-द्वेष नहीं होता। अपनी माता, डाकुओं की ओर न जाए तो ठीक – ऐसा विकल्प तक भी जिनको नहीं आता, ऐसे समभावी सन्त मुनिश्वर को धन्य है!

इस प्रकार मुनिराज की महिमा करते-करते वह डाकू सरदार, मुनिराज नागदत्त के समीप जाकर दीक्षा अङ्गीकार करता है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके, घोर तप करके घातिकर्मों का नाश करके वे नागदत्त मुनिराज और डाकू सरदार सूरदत्त मुनिराज, केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और पश्चात् अघातिकर्मों का भी नाश करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। धन्य है मुनिराज को और उनकी मुनिदशा को कि जिनका वीतरागी समभाव देखकर क्रूरपरिणामी डाकू भी मुनि होकर मोक्ष प्राप्त करता है। ●

(- बोधि-समाधि-निधान से)

7

क्षमामूर्ति मुनिराज यशोधर

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में सर्व समृद्धि से युक्त मगधदेश है। इसी मगधदेश में अतिरमणीय राजगृही नाम का अतिमनोहर नगर है, जो अपनी शोभा से इन्द्र की राजधानी स्वर्गलोक की शोभा को भी लज्जित करता है। इसमें महाप्रतापी एवं सर्व गुणालंकृत राजा श्रेणिक राज्य करते थे, उनकी शीलवान् रानी चेलना थी। जिसका रूप-सौन्दर्य इन्द्राणी के तुल्य अनुपम एवं श्रेष्ठ था।

राजा और रानी दोनों सर्व गुणसम्पन्न थे और दोनों में पारस्परिक अनन्य प्रेम था, पर एक चिन्ता से दोनों सदा दुःखी रहते थे। महाराज श्रेणिक का झुकाव क्षणिकवादीधर्म के प्रति था और रानी चेलना का समर्पण जैनधर्म के प्रति था। राजा श्रेणिक चाहते थे कि चेलना कैसे क्षणिकवादी बने और रानी चेलना चाहती थीं कि श्रेणिक कैसे जैनधर्म स्वीकार करें। दोनों अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध किया करते थे।

एक बार रानी ने क्षणिकवादी गुरुओं की परीक्षा की और अनेक प्रकार के तर्कों से उनके मत का खण्डन किया। रानी चेलना के अकाट्य तर्कों के आगे क्षणिकवादी गुरु टिक नहीं सके।

इस बात से श्रेणिक बहुत लज्जित हुए और उनके अन्दर विद्वेष की ज्वाला भड़क उठी, पर वे उस समय कुछ नहीं बोल सके।

वास्तव में गाढ़ मिथ्यात्व के अन्धकार में प्राणी की दृष्टि यथार्थता का अवलोकन नहीं कर पाती और अपात्र जीव को दिया गया उपदेश भी केवल सर्प को दूध पिलाने की तरह विषवर्धन ही करता है।

सम्राट श्रेणिक को अनाथ निरपराध मूक प्राणियों के शिकार का निन्दनीय व्यसन था। एक दिन श्रेणिक घोड़े पर आरूढ़ होकर सामन्तों और शिकारी कुत्तों के साथ अपनी व्यसन पूर्ति के लिए चल पड़े। उन्हें देखकर समस्त वन्य प्राणी भयाक्रान्त होकर इधर-उधर भागने लगे।

अरे! रक्षक ही जहाँ भक्षक बना हो तो हे मूक प्राणियों! तुम भागकर भी अन्य किसकी शरण में जाओगे ?

अरे रे कुकृत्य! एक ही बाण ने नवजात शिशु को दूध पिलाती हिरणी का प्राणान्त कर दिया। हाय! इस पापी संसार में माँ और पुत्र के वियोग की यह दु:ख भरी आह कौन सुने!!

आखेट में मदमस्त सम्राट, शिकार खेलकर राजभवन की और लौटने लगे, सामन्तगण मरे हुए पशुओं को लादे और खूंखार कुत्तों के साथ चले आ रहे थे। श्रेणिक की दृष्टि प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेती हुई चारों तरफ घूम रही थी कि सहसा उनकी नजर एक नग्न दिगम्बर साधु पर जा पड़ी, जिनकी कान्ति और मुखमण्डल की प्रभा सूर्यवत् उद्योत कर रही थी।

'ये कोई महान ऋषि ध्यान में लीन हैं' — ऐसा श्रेणिक को

विश्वास हो गया। ये महान ऋषि थे जैनमुनि यशोधर, जिनके सर्वाङ्ग से समरसधारा प्रवाहित हो रही थी। उनकी निष्पृह, निर्लिप्त और शान्त-प्रकृति ने सम्पूर्ण वातावरण को शान्त बना दिया था। मानो प्रकृति कोलाहल करके उनकी साधना में बाधक न बनना चाहती हो। उनकी प्रतिकृति उपलवत् निश्चल एवं परम गम्भीर थी।

'सामन्तों! यह निश्चल ध्यान में लीन नग्न ऋषि कौन हैं ?' — श्रेणिक ने अपने सामन्तों को बुलाकर पूछा। सामन्तों ने हाथ जोड़कर कहा — 'राजन्! ये ही महारानी चेलना के निर्ग्रन्थ गुरु जैनमुनि हैं।' — यह कहनेमात्र की ही देर थी कि श्रेणिक का सारा शरीर क्रोध से काँपने लगा, अन्दर से भयङ्कर विद्वेष की ज्वाला धधक उठी, उन्हें अपने गुरुओं के अपमान के बदले की भावना जागृत हुई। आज रानी का गुरु मुझे मिला है, मैं भी प्रतिशोध लूँगा। उन्होंने तत्काल गुस्से में तीक्ष्ण दाढ़ोंवाले पाँच सौ शिकारी कुत्ते मुनिराज पर छोड़ दिये।

मुनिराज के दिव्यप्रताप एवं शान्तमुद्रा से प्रभावित होकर कुत्ते सहज शान्त हो गये और उनकी प्रदक्षिणा देकर मन्त्र से कीलित सर्प की तरह उनके चरण-कमल में बैठ गये।

जिस प्रकार शीतल घृत भी अग्नि में डालने से उलटा जलता ही है, उसी तरह इस घटना को देखकर श्रेणिक का हृदय और भी अधिक जल उठा।

'इस दुष्ट ने इन कुत्तों को मन्त्र के द्वारा कीलित कर दिया है' — ऐसा सोचकर वे स्वयं क्रोध से मुनिराज की तरफ झपटे

कि उनकी दृष्टि अचानक एक विशालकाय सर्प पर पड़ी, उसी को मारकर उन्होंने मुनिराज के ऊपर डाल दिया और अपने इस कृत्य पर हर्ष से अट्टहास किया।

रे रे दुर्भाग्य! श्रेणिक भी क्रोध और मतान्धता के मद में क्या अनर्थ कर बैठा? — इसकी उसे खबर ही न थी। अरे रे! ये तो समस्त जिनशासन पर उपसर्ग था। उसी समय इस भयानक रौद्रध्यान के परिणामस्वरूप उसने सातवें महातमप्रभा नरक में तैंतीस सागर की महादु:खस्वरूप आयु का बन्ध कर लिया।

मिथ्यात्व के वश जीव क्या-क्या घोर पाप नहीं करता। बहुत समय से धधकती वैर की वासना की आग मुनिराज पर उंडेलकर श्रेणिक राजभवन की ओर चल पड़े। श्रेणिक के गुरुओं को जब इस बात का पता चला तो उन्हें भी अपार हर्ष हुआ और वे भी पाप में भागीदार हो गये।

करुणामूर्ति मुनिराज यशोधर अपने पर अकारण उपसर्ग जानकर देह से उपयोग हटाकर शुद्धचिद्रूप में अन्तर्ध्यान हो गये। जिस प्रकार विपत्ति के समय कछुवा गहरे सागर में बैठ जाता है, उसी प्रकार मुनिराज ज्ञानसिन्धु में समा गये।

राजकाज में व्यस्त रहने से महाराज श्रेणिक तीन दिन तक रानी चेलना के महल में नहीं जा सके, जब चौथे दिन वहाँ पहुँचे तो कौतूहलपूर्वक हँसते-हँसते सारा वृत्तान्त रानी चेलना को कह सुनाया। धर्मवत्सल चेलना यह बात सुनते ही काँप गयी, उसकी आँखों के सामने अन्धेरा छा गया, मानो उस पर कोई वज्रपात हो गया हो, उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी।

'अरे रे! धर्म पर उपसर्ग!! हाय नाथ! आपने यह क्या अनर्थ किया? निरीह मुनिराज पर घोर उपसर्ग! आपने तो अनन्त ज्ञानियों की विराधना का महापाप किया है, समस्त जिनशासन पर उपसर्ग किया है। हे नाथ! एक जिनसूत्र की विराधना का फल नरक और निगोद की अपार वेदना है तो.....'

रानी के विलाप से दयार्द्र होकर श्रेणिक बीच में ही बात काटते हुए बोले — 'प्रिय! तुम रंचमात्र शोक मत करो, वह पाखण्डी साधु तो वहाँ से कब का चलता बना होगा, उसने अपने गले से मृत सर्प भी निकालकर फेंक दिया होगा।'

महाराज की यह बात सुनकर चेलना विश्वास दिलाती हुई बोली —'राजन्! यह आपका भ्रम है, यदि वे मेरे पवित्र गुरु होंगे तो कभी भी उस अवस्था से चलायमान नहीं हो सकते, क्योंकि दिगम्बर मुनि उपसर्ग-परीषह सहन करने में शूरवीर होते हैं।

अचल सुमेरु चलायमान हो जाए, जमीन-आसमान एक हो जाए, सागर भी अपनी सीमा छोड़ दे; पर धीर, वीर, गम्भीर मुनिराज उपसर्ग में अपनी साधना नहीं छोड़ सकते। नाथ! क्षमाभूषण दिगम्बर सन्त तो पृथ्वी के समान अचल, सागर के समान गम्भीर, वायु के समान निष्परिग्रह, आकाश के समान निर्लेप, जल के समान स्वच्छ एवं मेघवत् परोपकारी होते हैं; वे ही मेरे गुरु हैं। इनके अलावा परिग्रही, पाखण्डी, विषलम्पटी, माँसभक्षी कभी मेरे गुरु नहीं हो सकते हैं।

प्रभो! ऐसे निरीह वीतराग मुनि पर उपसर्ग करके आपने वृथा ही अपने आप को दुर्गति का पात्र बनाया है।'

रानी के ऐसे वचन सुनकर श्रेणिक का हृदय भय से काँप उठा। उनका मन मुनिराज के निकट जाकर प्रायश्चित के लिए तड़फने लगा। वे बार-बार अपने दुष्कृत्य पर पश्चाताप करने लगे... मताग्रह के बन्धन शिथिल पड़ गये... प्रगाढ़ मोहान्धकार धुँधला हो गया। इस प्रकार मुनिराज के उपसर्ग की घोर वेदना का ख्याल आते ही करुणार्द्र राजा श्रेणिक, रानी चेलना और पुत्र अभयकुमार को साथ लेकर मुनिदर्शन के लिए चल पड़े।

उपसर्ग के कारण मुनिराज के सारे शरीर को चींटियों ने छलनी कर दिया था, पर मुनिराज यशोधर तो पूर्ववत् शान्त और गम्भीर मुद्रा में ध्यानारूढ़ थे। श्रेणिक के इस जघन्य कृत्य के लिए मानो सम्पूर्ण उपवन धिक्कार रहा था, झरने आँसू बहा रहे थे, पशु आप्लावित नेत्रों से मुनिराज की ओर निहार रहे थे और पक्षी कलरव कर रहे थे; सारा वातावरण शोकसन्तप्त था।

मुनिराज को देखते ही चेलना का हृदय रोमाञ्चित हो उठा। मुनिराज पर उपसर्ग देखकर उसकी आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी, पति का पाप उसकी आँखों में कौंध गया। वह अपने आपको धिक्कारने लगी।

जब श्रेणिक ने भी देखा कि मुनिराज पूर्ववत् ही स्तम्भ की तरह अडिग बैठे हैं, मुखमण्डल बालकवत् निर्विकार है तो देखते ही शर्म से उसका मस्तक झुक गया, हृदय-पटल खुल गये, मन में भक्तिरस उमड़ पड़ा। **अहो! धन्य मुनिदशा! धन्य वीतराग धर्म!!...** और अश्रुपूर्ण नेत्रों से मुनिराज के गले से सर्प निकाला, फिर शरीर-प्रक्षालन कर उपसर्ग दूर किया।

पश्चात् तीनों वात्सल्ययुक्त हृदय से मुनिराज को बारम्बार नमस्कार करके उनके चरण-कमल में बैठ गये।

उपसर्ग दूर हुआ जानकर मुनिराज का ध्यान टूटा और आँखें खुली तो पुत्रसहित युगल-दम्पति को देखकर सहज 'सत् धर्मवृद्धि हो' — ऐसा तीनों को एक समान मङ्गल आशीर्वाद दिया, क्योंकि वे तो.....

अरि-मित्र महल-मसान कंचन-काँच निंदन-थुतिकरन।
अर्घावतारन-असिप्रहारन में सदा समता धरन॥

अहो, धन्य है वीतरागी सन्तों की अद्‌भुत क्षमा!! मुनिराज के समत्वभाव को देखकर श्रेणिक लज्जित हो गये। अपने कृत्य पर पश्चाताप करने लगे... 'अरे रे! मैंने मतान्ध होकर महान अपराध किया है।'

श्रेणिक की पात्रता देखकर चेलना ने भक्तिपूर्वक मुनिराज के चरणों में नमस्कार कर, उनसे धर्म-सम्बोधन देने के लिए निवेदन किया। तब करुणामूर्ति मुनिराज यशोधर, मृदुल सम्बोधन से बोले —

'राजन्! यह प्राणी मिथ्यात्व के वश होकर अनन्तकाल से

अनन्त भवचक्र में परिभ्रमण करता हुआ अपार दु:ख भोग रहा है। भाग्यवश काकतालीय न्याय से चिन्तामणि तुल्य यह मनुष्य पर्याय और उत्तम कुल मिला तो उसे कुगुरुरूपी लुटेरों ने लूट लिया।

हे भाई! अब सब प्रकार से उत्तम अवसर आ गया है, ऐसा अवसर मिलना कठिन है; जीवन क्षणभङ्गुर है; इसलिए हे राजन्! रत्नत्रयधर्म धारण करो। भगवान आत्मा त्रिकाल मुक्त है, उसके आश्रय से धर्म और आनन्द प्रगट होता है। तुम भी स्वाश्रय का अपूर्व पुरुषार्थ करके पवित्र सम्यग्दर्शन प्रगट करो।

जिस प्रकार कोरा घड़ा एक-एक पानी की बूँद चूस लेता है, वैसे ही उपदेशामृत की एक-एक बूँद धर्मपिपासु श्रेणिक के कण्ठ से उतर रही थी, वह मेढ़े की भाँति टकटकी लगाकर मुनिराज की ओर निहार रहे थे, उनकी आँखों से टप-टप आँसू टपक रहे थे, मन का मैल पश्चाताप के आँसुओं से धुल रहा था। उपेदशामृत की वर्षा करके जब मुनिराज ध्यानस्थ हो गये तो पुत्र अभयकुमार के साथ राजा श्रेणिक और रानी चेलना, मुनिराज यशोधर और जिनशासन की जय-जयकार करते हुए मन में जिनधर्म-प्रभावना का प्रण लेकर राजमहल की ओर चल दिये... आज उन्हें सब कुछ नया-नया दिखलाई दे रहा था। ●

(पण्डित राजकुमार शास्त्री)

8

सत्य छिपाये नहीं छिपता

तीर्थङ्करों की शाश्वत जन्म-कल्याण-भूमि अयोध्या में महाप्रतापी राजा कीर्तिधर राजधर्म का निर्वहन कर रहे थे। राजमहल के स्वर्गतुल्य उत्तम भोगों के बीच भी वे संसार की असारता का विचारकर निर्ग्रन्थ दिगम्बर वनवासी बनने की भावना निरन्तर भाते थे। एक दिन दोपहर के समय स्फुरायमान सूर्य अचानक राहु के द्वारा ग्रसित हो गया, जिससे दिन में ही रात्रि का नजारा दिखा।

तब राजन् सोचने लगे — 'अपनी रश्मियों से जगत के अन्धकार को नष्ट करनेवाला परम तेजवान सूर्य भी जब क्षणमात्र में राहु के द्वारा ग्रसित हो जाता है तो फिर इस नश्वर जगत में मेरी क्या बिसात? अब तो अवश्य मैं मुक्तिवधु के वरण हेतु जैनेश्वरी दीक्षा अङ्गीकार करूँगा।'

यह समाचार जब राज्य के मन्त्री, पुरोहित आदि ने सुना तो वे बोले — 'महाराज! सम्पूर्ण वैभव-सम्पन्न इस अयोध्या नगरी को अनाथ मत करो। आपके श्रेष्ठ कुल की तो यही रीति है कि अपने पुत्र को राज्य सौंप कर दीक्षा ली जाती है।'

तब राजा कीर्तिधर का तत्काल दीक्षा का परिणाम शिथिल हुआ, लेकिन उन्होंने प्रतिज्ञा की — 'मैं पुत्र के जन्म का समाचार सुनते ही उसका राज्याभिषेक कर मुनिव्रत धारण कर लूँगा।'

आगे चलकर वर्षों बाद उनकी रानी सहदेवी गर्भवती हुई, परन्तु 'राजा दीक्षा लेकर वन में न चले जाएँ' — इस भय से यह घटना गुप्त रखी गयी और समय पाकर रानी ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। पुत्र के हाव-भाव एवं कौशल को देखकर उसका नाम **सुकौशल** रखा गया।

लोक में यह नीति है कि **सत्य छिपाये नहीं छिपता,** अत: उदयाचल की सूर्य रश्मियों की भाँति यह समाचार सारे नगर में फैल गया। राजा को भी विशेष हितैषियों के माध्यम से जब इस बात की गुप्त सूचना मिली तो उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि 'अहा! आज यह अपूर्व अवसर आया, जिसकी मुझे वर्षों से प्रतीक्षा थी। अब तो मैं इस गृह-जञ्जाल से छूटकर मुक्तिमहल में विश्राम करूँगा' — ऐसा निश्चय करके वे आत्मसाधना में तत्पर होकर मुनिव्रत अङ्गीकार करके वन-विहारी हो गये।

राजन् तो अपने कल्याण-पथ पर अग्रसर हो गये, परन्तु इस घटना से रानी सहदेवी अत्यन्त खेद-खिन्न हुई और सदा इस आशङ्का से भयभीत रहने लगी कि 'कहीं मेरा पुत्र भी पिता के समान जिनदीक्षा अङ्गीकार न कर ले।'

तभी ऐसा सुयोग बना कि किसी निमित्तज्ञानी ने घोषणा की — 'जिस दिन भी यह किशोर अपने पिता को वनवासी दिगम्बर मुनि के वेश में देखेगा, उसी दिन यह भी उनके समान जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर लेगा।'

रानी माँ पर तो जैसे चिन्ताओं का पहाड़ ही टूट पड़ा। अब तो वह पुत्र-व्यामोह में फँसकर निर्ग्रन्थता से ही द्वेष करने लगी और राज्य में घोषणा करवा दी कि 'किसी भी दिगम्बर मुनिराज को नगर में प्रवेश न करने दिया जाए।'

उसने सुकौशल को महलों में स्वर्ग के समान उत्तम भोग उपलब्ध कराते हुए शीघ्र ही अत्यन्त रूपवान अनेक राजकुमारियों से उसका विवाह करा दिया।

देखो! यद्यपि अज्ञानभाव से ग्रसित रानी माँ ने राजकुमार सुकौशल को भोगों के घेरे में फँसाये रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी, पर इन विषयरूपी जल में कमलवत् अलिप्त युवा राजा सुकौशल पूर्व संस्कार वशात् निरन्तर इस अग्निदाह से मुक्ति की लालसा रखते थे।

एक दिन राजा सुकौशल अपनी राजमाता और धायमाता, दोनों के साथ नगर की अनुपम छटा का अवलोकन कर रहे थे, तभी दूर से उन्होंने एक मुनिराज को नगर में आते देखा। राजमाता ने विचार किया — 'अरे! ये तो कीर्तिधर हैं, जिन्होंने पन्द्रह वर्ष पूर्व दीक्षा ली थी। कहीं इन्हें देखकर मेरा पुत्र भी मुझसे बिछुड़ न जाए।'

इस भय से राजमाता ने द्वारपालों को आदेश दिया — 'इन नग्न भिखारियों के लिए हमारे नगर में कोई स्थान नहीं है, इन्हें नगर में प्रवेश न करने दिया जाए। जब इन्हें पन्द्रह वर्ष पूर्व हम पर कोई दया नहीं आयी तो आज यहाँ क्या करने आए हैं?'

अपने पति और नगर के राजा के प्रति रानी सहदेवी के ऐसे

उपेक्षा भरे वचन सुनकर धाय माँ की आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी।

इस दृश्य से उद्वेलित मनवाले सुकौशल पूछ उठे — 'रे धाय माँ! ये सब क्या हो रहा है? वे महापुरुष कौन थे? उन्हें नगरी में क्यों नहीं आने दिया गया? और आपकी आँखों में आँसू... ? क्या बात है माँ....! बताओ तो सही!'

दु:खी हृदय से धाय माँ ने पहले तो राजमाता के डर से टाल-मटोल किया, परन्तु बाद में राजन् के अति आग्रह करने पर बोली — 'ये महापुरुष और कोई नहीं, बल्कि तुम्हारे ही पिताश्री हैं, जो कभी इस नगरी के प्रजापालक थे, उन्हीं का अपमान आज इस राज्य की राजमाता द्वारा देखकर मेरा हृदय भी रो उठा है।'

अपने आप को सँभालते हुए धाय माँ बोली — 'हमारी वंश-परम्परा में कभी कोई मुनिराज इस आँगन से आहार लिये बिना नहीं लौटे और आज देखो, राजमाता ही महामुनि का अपमान करने पर तुली हुई हैं।'

धाय माँ के करुण वचनों को सुनकर सुकौशल का मन उद्वेलित होकर राजमाता के प्रति ग्लानि से भर उठा, उन्होंने कहा — 'धिक्कार है ऐसी माँ को, जो पुत्र-व्यामोह में इतना बड़ा दुष्कृत्य कर बैठी। अरे! धिक्कार है, इस मोह को, धिक्कार है।'

तत्पश्चात् अविलम्ब ही राजा सुकौशल नङ्गे पैर ही दौड़कर महामुनि के समीप पहुँचकर विनती करते हैं — 'हे महामुनीश्वर! मुझ अबोध से भूल हुई कि आपकी वीतरागी नग्न दिगम्बर मुद्रा को मैंने नहीं पहचाना। हे नाथ! अब मुझे इस असार संसार से तिरने की कला बतायें प्रभु।'

अत्यन्त मधुर स्वर में कीर्तिधर मुनिवर बोले — 'हे वत्स! इस संसार में एक अकेला आत्मतत्त्व ही सर्वत्र सर्वदा सुन्दर है, इसकी साधना करना ही एकमात्र श्रेयस्कर है।'

गद्‌गद् हृदययुक्त सुकौशल बोले — 'हे प्रभो! इस अतीव अनुपम कार्य में विलम्ब कैसा? शीघ्र ही मुझे मुक्तिपुरी साम्राज्याधिपति बनने के लिए दिगम्बर दीक्षा प्रदान कीजिए।'

उसी समय मन्त्रीगण, राजमाता और सुकौशल की गर्भवती रानी विचित्रमाला वहाँ पहुँची और बोली — 'हे स्वामी! आप वंश परम्परानुसार पुत्र को राज्य सौंपकर ही दीक्षा धारण करें।'

तब राजा सुकौशल ने गर्भ में स्थित पुत्र का ही राज्यतिलक कर जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली। सत्य ही है — **सच्चा वैराग्य जागृत होने पर जगत के विषय-भोगों से सहज ही अरुचि का परिणाम हो जाता है और तब वे महापुरुष रागरूप कीचड़ में फँसना उचित नहीं समझते।**

इस सम्पूर्ण घटना से राजमाता सहदेवी को अत्यन्त काषायिक परिणाम हुए, जिसके फलस्वरूप वह कषायमृत्यु पाकर तिर्यञ्चगति में बाघिन की पर्याय में उत्पन्न हुई।

देखो, संसार की विचित्रिता! पति, मुनिधर्मधारक; पुत्र, तद्भवमोक्षगामी और स्वयं मरकर बाघिन हुई। तत्त्वज्ञान के अभाव में निरन्तर दु:खी वह बाघिन अपने बच्चों के साथ भटकते

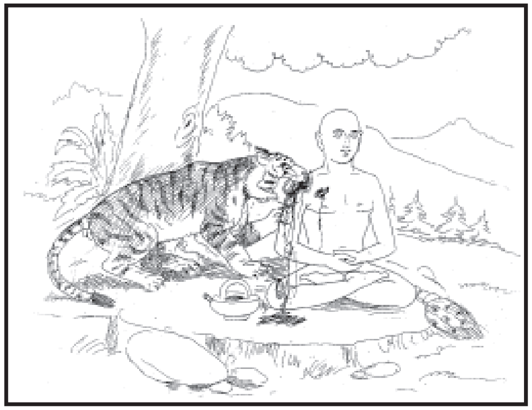

–भटकते वहाँ जा पहुँची, जहाँ कीर्तिधर व सुकौशल मुनि ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म–ईंधन को दहन करने में रत थे, पर यह शान्त वीतरागी मुद्रा उस बाघिन को नहीं सुहाई और उसने भीषण गर्जनापूर्वक जोरदार छलाँग लगाई और वह तथा उसके छोटे–छोटे पुत्र उन मुनिराजों के शरीर का भक्षण करने लगे।

उपसर्ग की इस भीषण स्थिति में भी वे दोनों मुनिवर तो निजानन्द रस के पान में मस्त थे, उन्हें तो इसकी कोई चिन्ता ही नहीं थी। धन्य हैं वे महामुनीश्वर! धन्य है उनकी आत्मसाधना!! उस समय भी सुकौशल मुनिराज तो ध्यानस्थ रहे तथा प्रचुर स्वसंवेदन व ध्यानाग्नि से अष्ट कर्मों का दहन कर केवलज्ञान प्रगट कर मोक्षपद प्राप्त किया।

इस बीच भक्षण करते–करते उस बाघिन की नजर जब सुकौशल मुनिराज के हाथ पर बने एक विशेष चिह्न पर पड़ी तो उसे जातिस्मरण हो आया और वह क्रूरता पश्चात्ताप में बदल गयी। तभी कीर्तिधर मुनिराज ने उसे सम्बोधन किया — 'हे बाघिन! पुत्र के व्यामोह में पड़कर ही तुम्हारी ये दशा हुई है और तूने उसी पुत्र के शरीर का भक्षण कर लिया। अरे, रे! इस मोह और अज्ञानरूपी पिशाच को धिक्कार है!! धिक्कार है।'

पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर शुद्ध हुई बाघिन ने तत्क्षण ही आत्मतत्त्व की समझपूर्वक माँस–भक्षण इत्यादि कुकृत्यों को छोड़कर एकदेश संयम धारण किया और कुछ समय बाद संयम की साधना कर स्वर्ग सिधार गयी तथा शुद्धोपयोग की धारा में लीनता द्वारा कीर्तिधर मुनिराज भी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी को प्रगट करके त्रिभुवन के अधिपति हुए।

अहो! धन्य है मुनिराज की शूरवीरता को! धन्य है मुनिराज की क्षमाशीलता को!! ऐसे परम दिगम्बर सन्तों के चरणों में हमारा बारम्बार नमन है। ●

(पण्डित राजकुमार शास्त्री)

प्रतिकूल प्रसङ्गों में स्वभाव का उग्र अवलम्बन

जिस प्रकार माता की साड़ी का पल्लू पकड़कर चलता हुआ छोटा बालक, चिल्लाता हुआ कुत्ता नजदीक आवे अथवा अन्य कोई कठिनाई आवे तो पकड़े हुए पल्लू को विशेष जोर से पकड़ लेता है; उसी प्रकार मुनिराज, परीषह अथवा उपसर्ग/प्रतिकूल संयोग के समय स्वसन्मुखता के प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निज शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करके प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं। भगवान ज्ञायक का आश्रय विशेष उग्रता से लेते हैं। अहा! वह दशा!! उस दशा को प्रगट करने से ही छूटकारा है। उस दशा के बिना मुक्ति नहीं है।

(– वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/117)

9

धन्य धन्य सुकुमाल महामुनि!

एक बार आचार्य सूर्यमित्र धर्मोपदेश देते हुए अनेक स्थानों पर विहार करके कौशाम्बी नगरी में आहार के लिये पधारे। वहाँ उनके गृहस्थाश्रम का भानजा अग्निभूति, मामा सूर्यमित्र की निर्ग्रन्थ अवस्था को देखने पर दुर्लभ सम्पत्ति की प्राप्ति के समान आनन्दित होकर, नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

जब मुनिराज वीतरागभाव से आहार लेकर जाने लगे, तब अग्निभूति ब्राह्मण ने प्रार्थना की — 'हे भगवन्! मेरा भाई वायुभूति क्रोध, मायाचार आदि पाप करता है और आपकी निन्दा करता है, आप उस दुष्ट को जाकर समझाइये!'

आचार्य महाराज ने कहा — 'भाई! उसके पास जाना ठीक नहीं है, क्योंकि वह स्वभाव से ही कठोर हृदयवाला है।'

फिर भी अग्निभूति के विशेष आग्रह करने पर वे वायुभूति के पास गये। पापी वायुभूति ने मुनिराज को देखते ही क्रोधपूर्वक उनकी बहुत निन्दा की, परन्तु मुनिराज तो समताधारी थे; इस कारण समताभावपूर्वक वे वन में चले गये।

छोटे भाई वायुभूति ने मुनिराज की बहुत कठोर वचनों से निन्दा की थी, इससे बड़े भाई अग्निभूति को बहुत दुःख हुआ।

उसे लगा — 'मेरे कारण ही मुनिराज की निन्दा हुई है, इसलिए मैं भी इस पाप का भागीदार हूँ। अब इस पाप की शुद्धि के लिए कारागृह के समान घर का त्याग करके मुनिराज के समीप जाकर मैं भी जिनदीक्षा ग्रहण करूँगा।'

इस प्रकार जिनदीक्षा अङ्गीकार करने का दृढ़ निश्चय करके उसने जङ्गल में पहुँचकर आचार्य सूर्यमित्र से जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

अग्निभूति के जिनदीक्षा के समाचार जानकर उसकी पत्नी सोमदत्ता को बहुत दुःख हुआ। उसने अपने देवर वायुभूति के पास जाकर कहा —'हे भाई! तुमने दुष्टता से मुनि की निन्दा की है, इससे मेरे पति को वैराग्य उत्पन्न हुआ है; अतः हमें वन में जाकर उन्हें समझाकर वापस घर लाना चाहिए।'

सोमदत्ता की यह बात सुनकर वायुभूति को बहुत क्रोध आया। उसने क्रोध में अन्ध होकर सोमदत्ता के पेट में लात मार दी। इस अपमान से सोमदत्ता अत्यन्त क्षुब्ध हुई और उसने निदानबन्ध किया — 'अभी तो मैं अबला हूँ; इसलिए कुछ भी प्रतिकार करने में समर्थ नहीं हूँ; परन्तु आगामी भव में मैं तुम्हारे पैर का भक्षण करके इस अपमान का बदला लूँगी।'

इधर मुनि की निन्दा के फलस्वरूप वायुभूति को सात दिनों में ही भङ्कर कोढ़ हो गया। उसकी असह्य पीड़ा से मरकर वह उसी नगर में गधी पर्याय में उत्पन्न हुआ।

देखो, देव-शास्त्र-गुरु की, साधर्मी की निन्दा करने से जीव की कैसी दुर्गति होती है। इसलिए हे भाई! भले ही

प्राण छूटने का प्रसङ्ग बने तो भी कभी धर्मात्माओं की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

वह गधी भूख, प्यास आदि बहुत दुःख भोगकर, वहाँ से मरकर सूकरी हुई। वहाँ भी बहुत दुःख सहन किये और मरकर क्रूर मुखवाली कुत्ती हुई और वहाँ भी बहुत ही दुःख सहन करके चाण्डाल के यहाँ जन्म लेकर अन्धी और दुर्गन्धयुक्त चण्डालनी हुई।

एक बार सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज विहार करते-करते चम्पानगरी में आये। अग्निभूति मुनिराज आहार के लिए गाँव में आ रहे थे, तब एक वृक्ष के नीचे दुःख से पीड़ित इस चण्डालनी को खड़ा देखा। उसे देखते ही अग्निभूति महाराज को कुछ स्नेह और दुःख से आँख में आँसू आ गये। इस कारण मुनिराज आहार के विकल्प का परित्याग करके वापस वन में चले गये।

उन्होंने गुरु महाराज को नमस्कार करके पूछा — 'हे प्रभो! रास्ते में चण्डालनी को देखने से मुझे शोक और आँसू क्यों आये?'

सूर्यमित्र महाराज ने कहा — 'वह चण्डालनी तुम्हारे छोटे भाई वायुभूति का ही जीव है। मुनि की निन्दा करने से उसकी यह दुर्गति हुई है। पूर्व जन्म के स्नेह-बन्धन से तुझे शोक और आँसू आये हैं। हे भद्र! प्राणियों के जन्म-जन्मान्तर सम्बन्ध से स्नेह और वैरभाव प्रगट हुआ ही करता है।

अब चण्डालनी की आसन्न भव्यता निकट है। आज ही उसकी मृत्यु होनेवाली है। इस कारण तुम वापस जाकर युक्तिपूर्ण

वचनों से उसे समझाकर, उसके कल्याण के लिए व्रतपूर्वक संन्यास धारण कराओ।'

अग्निभूति मुनिराज ने चण्डालनी के पास जाकर कहा — 'बेटी! तू देव-गुरु-धर्म की निन्दा करने के फलस्वरूप ऐसे तीव्र दुःख भोगती रही है। अब धर्म की शरण लेकर, पाँचों पापों के परित्यागपूर्वक आहार का त्याग कर दे। आज ही तेरी मृत्यु होनेवाली है, इसलिए इस कार्य में विलम्ब मत कर!!'

मुनिराज के मधुर सम्बोधन से प्रमुदित उस चण्डालनी ने उसी समय व्रत धारण किये और आहार का परित्याग करके समाधिपूर्वक प्राण-त्याग करके नागशर्मा ब्राह्मण के यहाँ नागश्री नाम की पुत्री हुई।

नागश्री के भव में उसने पाँच अणुव्रत लिए और मुनियों के सत्समागम से आर्यिका होकर उग्र तपश्चर्या की और अन्त समय में समाधिमरण करके अच्युत स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव हुआ।

वायुभूति के जीव का सुकुमाल के रूप में अवतरण

उस समय उज्जयिनी नगरी में वृषभाङ्क नाम का राजा राज्य करता था। उसी नगरी में सुरेन्द्रदत्त नाम का महान धनाढ्य सेठ था। उसकी पत्नी का नाम यशोभद्रा था। अच्युत स्वर्ग में देव बना वायुभूति का जीव वहाँ के सुख भोगकर, वहाँ से च्युत होकर सेठ सुरेन्द्रदत्त का पुत्र हुआ; उसका नाम **सुकुमाल** रखा गया, लेकिन पुत्र का मुख देखकर सेठ सुरेन्द्रदत्त दीक्षित हो गये। सुकुमाल बहुत ही रूपवान और पुण्यवान था।

'यह मुनि के दर्शन होते ही अथवा मुनि के वचन सुनते ही

तुरन्त दीक्षा ले लेगा' — ऐसा अवधिज्ञानी मुनिराज ने कहा तो उसकी माता यशोभद्रा ने सुकुमाल को बाहर नहीं जाने देने के लिए महल के बगल में ही बाग-बगीचा, जिन-मन्दिर आदि सब निर्मित करा दिया। आगे जाकर सुकुमाल के महल के नजदीक ही उसकी बत्तीस पत्नियों के लिए बत्तीस महल बनाये गये। अपने महल में अत्यन्त सुखपूर्वक रहते हुए सुकुमाल को काफी समय व्यतीत हो गया।

सुकुमाल के अतुल वैभव और सुकुमार स्वभाव की ख्याति सुनकर, एक दिन राजा वृषभाङ्क सुकुमाल से मिलने हेतु उनके महल में पहुँच गये। सेठानी यशोभद्रा ने राजा का अत्यन्त हर्षपूर्वक उचित सम्मान किया और अकारण उनके आने का उद्देश्य जानने हेतु जिज्ञासा व्यक्त की।

राजा वृषभाङ्क ने कहा — 'मैं आपके पुत्र सुकुमाल को देखने के उद्देश्य से यहाँ आया हूँ।'

उसी समय सुकुमाल भी वहाँ पहुँच गया। सुकुमाल का कामदेवतुल्य रूप एवं सुकुमारता से अत्यन्त प्रभावित महाराज वृषभाङ्क ने उसे अपने समीप ही बिठा लिया।

औपचारिक चर्चा-वार्ता के पश्चात् सेठानी यशोभद्रा के वात्सल्यपूर्ण अनुरोध पर राजा वृषभाङ्क ने सुकुमाल के साथ ही भोजन ग्रहण किया।

भोजनोपरान्त अपने महल की ओर प्रस्थान करने से पूर्व अत्यन्त खिन्न मन से राजन् ने कहा – 'हे देवी! आपके पुत्र से मिलकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है; परन्तु...'

'परन्तु क्या राजन्... ?' सेठानी ने आकुलित होते हुए पूछा।

'लगता है यह आपकी उपेक्षा का शिकार है; देखो न, इसे अपने आसन पर स्थिर होकर बैठना नहीं आता, इसकी आँखों में से निरन्तर पानी बहता रहता है और अच्छी तरह पकाये हुए चावल का एक-एक दाना चुगकर खाता है — ये तीन महा व्याधियाँ हैं फिर भी आपकी लापरवाही... — यह उचित नहीं है।'

मुस्कराते हुए सेठानी यशोभद्रा ने कहा – 'राजन्! इनमें से कोई भी व्याधि कुमार को नहीं हैं। बात यह है कि यह सदा दिव्य शय्या पर ही सोता है और मणिरत्न के प्रकाश में ही रहता है। आज आपके शुभागमन के उपलक्ष्य में आप पर क्षेपित किये गये सरसों के दाने आसन पर बिखरे पड़े होने से इसे चुभ रहे हैं — यही कारण है, इसके बार-बार आसन बदलने का।'

'और आँखों में पानी...' विस्मित स्वर में राजा ने पूछा।

'दीपक से आपकी आरती उतारी गई थी न, उसी का धुँआ सहन न कर पाने से इसकी आँखों में से पानी आ रहा है।' — सेठानी ने उत्तर दिया

'पर चावल के दाने...'

'महाराज! यह कुमार सूर्यास्त के समय कमल में रखे हुए सुगन्धित चावलों का सेवन करता है; पर आज आपके निमित्त से उनमें कुछ अन्य चावल मिलाकर भोजन तैयार किया था – इसी कारण यह एक-एक चावल चुग-चुगकर खा रहा था।'

सेठानी के उत्तर से विस्मित राजा वृषभाङ्क ने सुकुमाल का **अवन्ति सुकुमार** नाम रखकर अपने महल की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार सुकुमाल का अमूल्य जीवन भोगों की मग्नता में ही व्यतीत हो रहा था। माँ की ममता और भोगों की प्रचुरता में निमग्न होकर वह अपने चरम लक्ष्य से पतित हो रहा था। आह! तीव्र पुण्योदय की कलङ्किनी विषय-मदिरा में मदमस्त इस जीव के जीवन का अन्त अत्यन्त निकट आ गया।.... परन्तु तभी...

पूर्व-जन्म से चले आ रहे सम्बन्ध से सुकुमार के मामा यशोभद्र मुनिराज ने सुकुमाल के हित के लिए उनके उद्यान में स्थित जिनमन्दिर में चातुर्मास स्थापित किया और चातुर्मास पूर्ण होने पर कार्तिक सुदी पूर्णिमा की रात्रि के अन्तिम क्षणों में जब मुनिराज ने देखा कि सुकुमाल की नींद खुली हुई है तो वे उसे सुनाने के लिए स्वर्ग के भव का, अनेक ऋद्धियों का विविध प्रकार से वर्णन करने लगे, जिसे सुनकर उसी समय सुकुमाल को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्वभव का ज्ञान होने से उन्हें महावैराग्यभाव जागृत हुआ। वे मुनिदीक्षा लेने के प्रबल भाव होने से अपने महल से उतरने के लिए कपड़े की डोरी बनाकर खिड़की से नीचे उतरकर मुनिराज के पास पहुँच गये।

मुनिराज ने कहा — 'हे सुकुमाल! अब तेरी आयु मात्र तीन दिन की ही शेष है, अत: संयम ग्रहण कर!'

इस प्रकार गुरु के उपदेश से सुकुमाल संयमसहित दीक्षा लेकर जङ्गल में चले गये। सुकुमाल मुनिराज ने उत्कृष्ट समाधिमरण अङ्गीकार कर लिया और आत्मध्यान करने लगे।

उसी समय पूर्वभव की भाभी जो सियालिनी हुई थी, वह अपने बच्चों के साथ आकर सुकुमाल के पैरों को खाने लगी।

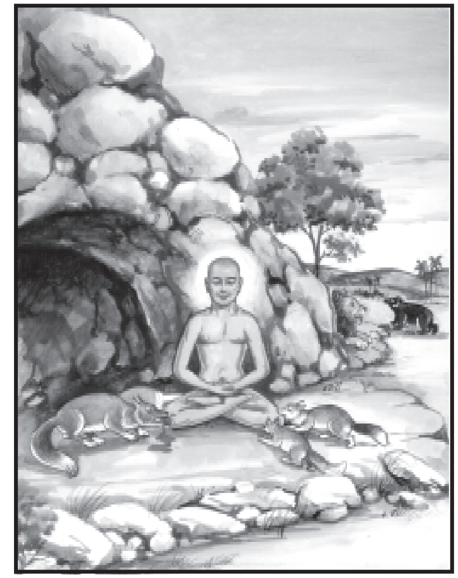

तीन दिन तक खाते-खाते अन्त में पेट फाड़कर आँतों को चबाने लगी। उपसर्ग की इस भीषण परिस्थिति में धीर-वीर मुनिराज सुकुमाल बारह भावनाओं का चिन्तवन करके, आत्म-एकाग्रता में निश्चल रहकर, स्वसन्मुख उग्रता से उपसर्ग को जीतकर समाधिपूर्वक देह छोड़कर सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में गये और वहाँ तैंतीस सागर की आयु पूर्ण करके मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

देखो, सुकुमाल ने वायुभूति के भव में क्रोधपूर्वक कठोर वचन कहकर मुनि की निन्दा की, उसके फल में दुर्गतियों के महा दु:ख भोगे और दुर्गन्धियुक्त चण्डालनी के भव में एक अनशनपूर्वक देहत्याग करके नागश्री होकर, आर्यिका व्रत ग्रहण करके अच्युत स्वर्ग में देव होकर सुकुमाल के भव में मात्र तीन दिन के संयम और घोर उपसर्ग सहकर सर्वार्थसिद्धि में गये। अहा! मुनिराजों की शूरवीरता और समताभाव को धन्य है!! ●

(बोधि-समाधि निधान एवं विराग वाटिका से)

10

पाण्डवों का वैराग्य

जरतकुमार के द्वारा द्वारिका नगरी के नाश का तथा श्रीकृष्ण की मृत्यु का समाचार सुनकर पाण्डव एकदम शोकमग्न हो गये। उन्होंने द्वारिका नगरी फिर से नयी बसायी और श्रीकृष्ण के भाई जरतकुमार को द्वारिका के राजसिंहासन पर बिठाया...।

तब नेमिप्रभु और श्रीकृष्ण के समय की हरी-भरी द्वारिका तथा वर्तमान की द्वारिका का हाल-बेहाल देखकर पाण्डव शोकातुर हो गये, वे वैराग्य से ऐसा चिन्तवन करने लगे —

'अरे, यह द्वारिका नगरी देवों द्वारा रचायी गयी थी, वह भी आज पूरी जलकर राख हो गयी है। प्रभु नेमिकुमार जहाँ की राजसभा में विराजते थे और जहाँ हमेशा नये-नये मङ्गल उत्सव होते थे, वह नगरी आज सुनसान हो गयी है। कहाँ गये रुक्मणि आदि रानियों के सुन्दर महल और कहाँ गये वे हर्ष से ओतप्रोत पुत्र आदि कुटुम्बीजन! वास्तव में कुटुम्बादि का संयोग क्षणभङ्गुर है, वह बादल के समान देखते ही देखते विलय हो जाता है। संयोग तो नदी के तीव्र प्रवाह के समान चञ्चल है, उन्हें स्थिर नहीं रखा जा सकता। संसार की ऐसी विनाशीकदशा देखकर

विवेकी जीव विषयों के राग से विरक्त हो जाते हैं।

जो मूढ़ अज्ञानी जीव विषय-सेवन से अपने को सुखी मानते हैं, वे आँखें होते हुए भी अन्धे होकर दुःखरूपी कुएँ में गिरते हैं और दुर्गति में जाते हैं। खुजली के समान इन्द्रिय-विषयों के भोग का फल दुखदायक ही है और उनसे जीव को कभी तृप्ति नहीं मिलती। विषयों के त्याग और चैतन्यसुख के सेवन से ही इस जीव को तृप्ति मिल सकती है।

पाँच-इन्द्रियों के विषयों में लीन जीव, पाँच प्रकार के परिवर्तनरूप दीर्घ संसार में चक्कर लगाते हैं और मिथ्यात्व की वासना के कारण अपने हित-अहित का विचार नहीं कर सकते तथा धर्म की तरफ उनकी रुचि भी जागृत नहीं होती। अत: मोक्षसुख को चाहनेवाले भव्य जीवों को मिथ्यात्व और विषय-कषायों का त्याग करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म प्राप्त करने का उद्यम करना चाहिए।'

इस प्रकार वैराग्यपूर्वक विचार करते-करते वे पाण्डव द्वारिका से प्रस्थान करके पल्लव देश में आये और वहाँ विराजमान श्रीनेमिनाथ तीर्थङ्कर के दर्शन किये। उन्होंने प्रभु के केवलज्ञान की स्तुति की और धर्म की पिपासा के साथ उनका धर्मोपदेश सुना।

प्रभु की दिव्यवाणी में चिदानन्द तत्त्व की स्वानुभूति और मोक्षसुख की अपूर्व महिमा सुनकर, उन पाण्डवों का चित्त शान्त हुआ... उन्हें आत्मशुद्धि की वृद्धि प्राप्त हुई... संसार से उनका चित्त विरक्त हुआ और मोक्ष को साधने के लिए वे उत्सुक हुए। वे विचारने लगे —

'अरे! नेमिनाथ प्रभु के समान तीर्थङ्कर का साक्षात् सुयोग मिलने पर भी अब तक हम असंयम में ही रहे और तुच्छ राज्यभोगों के लिए अनेक बड़ी लड़ाईयाँ भी लड़-लड़कर अपना जीवन गँवा दिया।

अरे! श्रीकृष्ण के समान अर्द्ध चक्रवर्ती राजा का राज्य भी जहाँ स्थिर नहीं रहा... द्वारिका नगरी देखते-देखते आँखों के सामने ही सारी जल गई और श्रीकृष्ण जैसा राजा भी पानी के बिना वन में मृत्यु को प्राप्त हुआ। अहो! इस संसार में राग, पुण्य और उसका फल सबकुछ अध्रुव और अशरण है...।'

इस प्रकार वैराग्यचित्तपूर्वक पाँचों पाण्डव, माता कुन्ती, द्रौपदी और सुभद्रा आदि सभी नेमिनाथ प्रभु के समवसरण में बैठे हैं। सबका चित्त असार-संसार से थक गया है और जिनदीक्षा हेतु तत्पर हैं।

अहो! युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव — ये पाँचों

भाई जैन मुनि होकर आत्मध्यान में लीन हुए और पञ्च परमेष्ठी पद को सुशोभित करने लगे। उन्हें देखकर सभी आश्चर्य को प्राप्त हुए... स्वर्ग के देव भी आनन्दपूर्वक उत्सव करने लगे। तभी माता कुन्ती, द्रौपदी और सुभद्रा ने भी राजमती आर्यिका के पास जाकर दीक्षा ले ली।

उसके बाद विहार करते-करते वे पाण्डव मुनिराज, सौराष्ट्र देश में आये... नेमिनाथ प्रभु की कल्याणक भूमि गिरनार की यात्रा की... और थोड़े दिन वैराग्य भूमि सहस्त्र आम्रवन में रहकर आत्मध्यान की उग्रता के द्वारा वीतरागता की वृद्धि की... बाद में शत्रुञ्जय सिद्धक्षेत्र पर आकर निष्कम्प आत्मध्यान करने लगे... अहो! परमेष्ठी पद में झूलते वे पाँचों पाण्डव मुनिराज पञ्च परमेष्ठी जैसे ही शोभित हो रहे थे।

शत्रुञ्जय पर्वत पर पाँच पाण्डव मुनिवर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल व सहदेव संसार से विमुख होकर आत्मस्वरूप में उपयोग को एकाग्र करके शुद्धोपयोगरूप आत्मध्यान कर रहे थे... शत्रु-मित्र के प्रति उन्हें समभाव था, उसी समय दुर्योधन के दुष्ट भानजे ने उन्हें देखा और 'इन लोगों ने ही मेरे मामा को मारा है' — ऐसा विचार करके बैरबुद्धि से बदला लेने के लिए तैयार हुआ।

उस दुष्ट जीव ने भयङ्कर क्रोधपूर्वक लोहे के धधकते मुकुट आदि बनवाकर मुनिवरों के मस्तक पर पहनाकर उस पर अग्नि का घोर उपसर्ग किया... धधकते लोहे के मुकुटों से मुनिवरों का सिर जलने लगा... हाथ-पैर जलने लगे... परन्तु ऐसे घोर उपसर्ग के बीच भी वे मुनि भगवन्त निजस्वरूप से डिगे बिना बारह वैराग्य-भावनाओं का चिन्तन करने लगे।

प्रथम तो, अग्नि के द्वारा जलते शरीर को देखकर उन धीर-वीर पाण्डवों ने क्षमारूपी जल का सिंचन किया, पञ्च परमेष्ठी और धर्म के चिन्तन के द्वारा वे आत्मसाधना में स्थिर हो गये।

आत्मा में क्रोधाग्नि को प्रवेश नहीं होने दिया, जिससे वे जले नहीं। वे जानते थे कि यह अग्नि कभी भी हमारी आत्मा को नहीं जला सकती, क्योंकि आत्मा तो देह से भिन्न शुद्ध चैतन्य-स्वरूपी, अरूपी पदार्थ है। अग्नि इस मूर्तिक शरीर को भले ही जला दे, परन्तु इससे हमारा क्या नुकसान है?

इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा के चिन्तन के द्वारा महान उपसर्गविजयी पाण्डव मुनिराजों ने ध्यानरूपी अग्नि प्रकट की। बाहर में शरीर जल रहा था और अन्दर में ध्यानाग्नि के द्वारा कर्म भस्म हो रहे थे। उस समय वे पाण्डव मुनिवर बारह वैराग्य भावना भाने में तत्पर थे।

शत्रुञ्जय सिद्धक्षेत्र पर उपसर्ग के समय पाण्डव मुनिवरों ने जिन उत्तम भावनाओं के द्वारा आत्मकल्याण किया था, उन भावनाओं की प्रत्येक मुमुक्षुजीव को भावना करनी चाहिए। पाण्डव-पुराण के अनुसार उन वैराग्य-भावनाओं को यहाँ दिया जा रहा है।

अनित्यभावना - संसार में जीवन क्षणभङ्गुर है, बादलों के समान देखते-देखते विलीन हो जाता है। जगत में एक अपनी आत्मा ही ऐसी वस्तु है जो सदा शाश्वत रहती है, जिसका कभी वियोग नहीं होता। इसलिए हे आत्मा! तू समस्त बाह्य वस्तुओं से ममत्व हटाकर स्व में ही स्थिर हो...!

अशरणभावना - जिस प्रकार भूखे सिंह के पञ्जे में पड़े हुए हिरण की कोई रक्षा नहीं कर सकता, उसी प्रकार मृत्यु के मुख में पड़े हुए प्राणी की कोई रक्षा नहीं कर सकता। इसलिए

हे आत्मन्! तू इन सबका शरण लेने की बुद्धि को छोड़ और अपने अविनाशी चैतन्यस्वरूप आत्मा की शरण ले! — यही सच्ची शरण है।

संसारभावना - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप पञ्च परावर्तनमयी इस संसार में यह आत्मा निजस्वरूप को समझे बिना चक्कर लगा रहा है, कभी एक गति में तो कभी दूसरी गति में; कभी राजा तो कभी रङ्क; कभी देव तो कभी नारकी; कभी द्रव्यलिङ्गी साधु तो कभी कषायी; इस प्रकार बहुरूपिया होकर घूम रहा है। पञ्चविध परावर्तन में एक-एक परावर्तन का अनन्त काल है। वह पञ्च परावर्तन इस जीव ने एक बार नहीं, अपितु अनन्त बार पूरे किये हैं, तो भी विषयलालसा से इसका चित्त तृप्त नहीं हुआ, तो अब कैसे होगा? स्व-विषय को भूलकर तू सदा अतृप्तरूप ही रहा है।

एकत्वभावना - यह जीव अकेला ही आया है, अकेला ही जन्म-मरण के दुख भोगता है, अकेला ही गर्भ में आता है, अकेला ही शरीर धारण करता है, अकेला ही बालक-जवान-वृद्ध होता है, अकेला ही मरता है; इस जीव के सुख-दुख में कोई भी साथी नहीं है।

अन्यत्वभावना - पानी और दूध के समान शरीर और आत्मा का मेल दिखता है, परन्तु जैसे सचमुच दूध और पानी भिन्न-भिन्न हैं; वैसे ही वास्तव में आत्मा और शरीर भी भिन्न-भिन्न हैं।

अशुचिभावना - यह शरीर तो अशुचिता का पिटारा है,

हाड़-माँस-खून-मवाद आदि से बना हुआ है। इसके नवद्वारों में से घृणाजनक मैल बहता रहता है, चन्दनादि उत्तम से उत्तम वस्तुएँ भी इस शरीर के सम्बन्ध होते ही दूषित हो जाती हैं, तो फिर अरे आत्मा! तुम ऐसी अशुचि के स्थानरूप शरीर से मोह और प्रेम क्यों करते हो? अब तो शरीर को हेय समझकर तुम शीघ्र उससे मोह छोड़ो तथा रागादि कषायों को भी पवित्र चेतन से विरुद्ध अपवित्र जानकर छोड़ो और अपनी पवित्र ज्ञान गङ्गा में स्नान करके पावन होओ, इसी में तुम्हारा कल्याण है।

आस्रवभावना – जिस प्रकार नदी में छेदवाली नाव पानी भरने से डूब जाती है; वैसे ही मोहरूपी छिद्र द्वारा आत्मा में कर्म आते हैं और उसे संसार-समुद्र में डुबा देते हैं। उन कर्मों के आने का मुख्य कारण मिथ्यात्व है। उसके बाद कषाय का छोटा कण भी जीव को कर्म का आस्रव कराता है; इसलिए हे जीव! तुम चैतन्यस्वरूप में लीनता के द्वारा वीतरागी होकर सर्व आस्रवों को रोको और निरास्रवी हो जाओ – ऐसा करने से ही तुम्हारी आत्मारूपी नौका इस भव-समुद्र से पार होगी और तुम्हारा कल्याण हो जाएगा।

संवरभावना – सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मध्यान से ही संवर होता है।

अहो! भव का नाश करनेवाली अपूर्व आत्मभावना इसी क्षण भाओ। उपयोगस्वरूप आत्मा को अनुभव में लेकर समस्त परभावों को नष्ट करो। चारित्रमोह की सेना का भी क्षपकश्रेणी आरोहण कर सर्वथा नाश करो।

निर्जराभावना – सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के द्वारा कर्मों की निर्जरा होती है। जिस प्रकार धधकती अग्नि में कढ़ाई का सभी पानी शोषित हो जाता है, उसी प्रकार उग्र आत्मभावना के प्रताप से विकार जल जाता है।

लोकभावना – अनन्त जीव-अजीव के समूहरूप इस लोक का कोई बनानेवाला नहीं है, यह लोक तो अनादि सिद्ध अर्थात् अकृत्रिम और निरालम्बी है। इसलिए हे आत्मा! तू ऊर्ध्व-मध्य और अधोलोक का विचित्र स्वरूप विचारकर, सम्पूर्ण लोक में सर्वोत्कृष्ट महिमावन्त निज आत्मा में स्थिर हो, जिससे तुम्हारा लोक-भ्रमण मिटे और स्थिर सिद्धदशा प्रगट हो।

बोधिदुर्लभभावना – जीव को मनुष्यपर्याय, उत्तम कुल, निरोग शरीर, दीर्घ आयुष्य, जैनशासन, सत्सङ्ग और जिनवाणी का श्रवण – ये सब मिलना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इसलिए हे आत्मा! तुम इस महा दुर्लभ योग को प्राप्त कर, अब अति अपूर्व आत्मबोध के लिए प्रयत्नशील होओ।

धर्मभावना – सम्यग्दर्शनादिरूप जो धर्म है, उससे इस जीव को सुख की प्राप्ति होती है। धर्म तो आत्मा के उस भाव का नाम है, जो जीव को दु:ख से छुड़ाकर सुखरूप शिवधाम में स्थापित करे; इसलिए हे आत्मा! तू भावमोह से उत्पन्न हुए विकल्पों को छोड़कर शुद्ध चैतन्यरूप अपने आत्मा का दर्शन करके उसमें लीन हो जा! यही धर्म है और यही तुझे सुखरूप है।

इस प्रकार वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करते हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन — इन तीन मुनिवरों ने तो उसी समय निर्विकल्प

शुद्धोपयोगपूर्वक क्षपकश्रेणी माँडकर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लिया किन्तु शेष नकुल और सहदेव — इन दो मुनिवरों को अपने भाईयों / साधर्मी मुनिराजों के प्रति

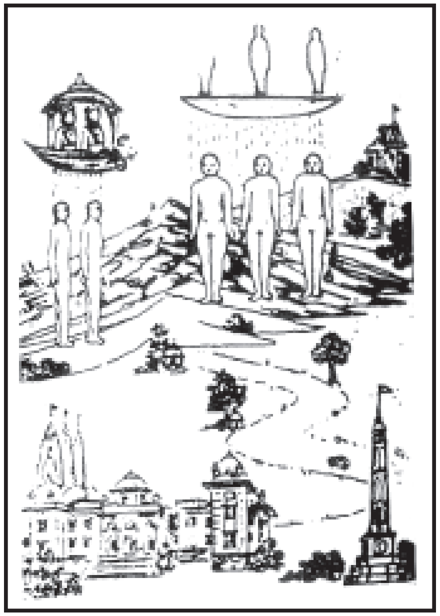

सहज विकल्प हो जाने से केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, परन्तु वैराग्य-भावनापूर्वक सर्वार्थसिद्धि नाम के सबसे ऊँचे देवलोक में गये... वहाँ से निकलकर वे भी मोक्ष प्राप्त करेंगे।

घोर उपसर्ग के समय शत्रुञ्जय पर्वत पर यह वैराग्य भावना पाण्डवों ने भायी थी — यह हम सभी को भी भानी चाहिए, क्योंकि वैराग्यभावनारूपी माता और भेदविज्ञानरूपी पिता ही सिद्धि के जनक हैं। घोर उपसर्ग में भी वैराग्यभावना ही शान्ति का सच्चा उपाय है, अतीन्द्रिय आनन्द प्रदायिनी है। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

11

सप्तर्षि मुनि भगवन्त

सोनगढ़ एवं मङ्गलायतन सहित अनेक जिनमन्दिरों में एक चित्र में मथुरा नगरी में सात मुनि भगवन्तों (सप्तर्षि) के आगमन का अत्यन्त भाववाही दृश्य है... एक साथ सात वीतरागी मुनिवरों को देखकर भक्त हृदय प्रफुल्लित होते हैं और सहज ही उस चित्र की कथा जानने की उत्कण्ठा जागृत होती है.... पद्मपुराण में से यहाँ वह कथा दी गई है। आज भी मथुरा नगरी के जिन मन्दिर में सप्तर्षि मुनिवरों की प्रतिमाजी विराजमान हैं..... !

राम-लक्ष्मण आदि लंका को जीतकर अयोध्य लौटे और उनका राज्याभिषेक हुआ। तत्पश्चात् अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उन्होंने अपने लघुभ्राता शत्रुघ्न से कहा कि ‘बन्धु! तुम्हें जो देश पसन्द हो वह ले लो। यदि अयोध्या चाहते हो तो आधी अयोध्या ले लो अथवा राजगृही, पोदनपुर आदि अनेक राजधानियों में से जो तुम्हें पसन्द हो, वहाँ राज्य करो।’

तब शत्रुघ्न ने कहा - ‘मुझे मथुरा का राज्य दीजिये।’

रामचन्द्रजी ने कहा - ‘हे भ्राता! मथुरा नगरी में तो राजा मधु का राज्य है, वह रावण का दामाद और अनेक युद्धों में

विजय प्राप्त करनेवाला है, चमरेन्द्र ने उसे त्रिशूलरत्न दिया है और उसका पुत्र लवणसागर भी महा शूरवीर है, उन दोनों पिता–पुत्र को जीतना कठिन है; इसलिए मथुरा को छोड़कर दूसरा जो भी राज्य तुम्हें अच्छा लगे वह ले लो।'

शत्रुघ्न ने कहा – 'मुझे तो मथुरा ही दीजिये, मैं राजा मधु को युद्ध में मधु के छत्ते की भाँति गिरा दूँगा।' ऐसा कहकर शत्रुघ्न मथुरा जाने को तैयार हो गये।

तब रामचन्द्रजी ने उनसे कहा 'भाई, तुम मुझे एक वचन देते जाओ।'

शत्रुघ्न ने कहा 'बन्धु! आप तो मेरे सर्वस्व हैं, प्राण हैं, राजा मधु के साथ युद्ध करने के अतिरिक्त आप जो भी कहें, मैं वह सब करने को तैयार हूँ।'

राम ने कहा 'हे वत्स! तुम मधु के साथ युद्ध करो तो उस समय करना, जब उसके हाथ में त्रिशूल न हो।'

शत्रुघ्न ने कहा 'मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।'

तत्पश्चात् जिनदेव की पूजा करके तथा सिद्धों को नमस्कार करके माता के पास आकर शत्रुघ्न ने विदा माँगी, तब माता ने कहा 'हे वत्स! तुम्हारी विजय हो। तुम्हारी विजय के पश्चात् मैं जिनेन्द्रदेव की महापूजा कराऊँगी, स्वयं मङ्गलरूप और तीन लोक के मङ्गलकर्ता श्री जिनदेव तुम्हारा मङ्गल करें, सर्वज्ञ भगवान के प्रसाद से तुम्हारी विजय हो, सिद्ध भगवान तुम्हें सिद्धि कर्ता हों, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु परमेष्ठी तुम्हारे विघ्न हरें और कल्याण करें।' – ऐसा कहकर माता ने मङ्गलकारी आशीर्वाद

दिया, उसे शिरोधार्य करके शत्रुघ्न ने माता को नमस्कार किया और वहाँ से मथुरा की ओर प्रस्थान किया। लक्ष्मणजी ने उन्हें समुद्रावर्त नामक धनुष देकर कृतान्तवक्र सेनापति को उनके साथ भेजा।

शत्रुघ्न, सेनासहित मथुरा के निकट आ पहुँचे और यमुना नदी के किनारे पड़ाव डाला। वहाँ मन्त्री चिन्ता करने लगे कि राजा मधु तो महान योद्धा है और शत्रुघ्न बालक है, यह शत्रु को किस प्रकार जीत सकेंगे? तब कृतान्तवक्र सेनापति ने कहा 'अरे मन्त्री! आप साहस छोड़कर ऐसे कायरता के वचन क्यों निकाल रहे हैं? जिस प्रकार हाथी महा बलवान है और सूंढ द्वारा बड़े–बड़े वृक्षों को उखाड़ फैंकता है, तथापि सिंह उसे पराजित कर देता है; उसी प्रकार मधु राजा महा बलवान होने पर भी शत्रुघ्न उसे अवश्य जीत लेंगे।' सेनापति की बात सुनकर सबको बहुत प्रसन्नता हुई।

इतने में नगर में गये हुए गुप्तचरों ने आकर समाचार दिया 'इस समय राजा मधु वनक्रीड़ा के लिये नगर के बाहर उपवन में रहता है, उसे पता तक नहीं है कि आप मथुरा जीतने के लिये आये हैं; इसलिए मथुरा पर आसानी से अधिकार किया जा सकता है।' यह सुनकर शत्रुघ्न ने अपने योद्धाओंसहित मथुरा नगरी में प्रवेश किया।

जिस प्रकार योगी कर्मनाश करके सिद्धपुरी में प्रवेश करते हैं; उसी प्रकार शत्रुघ्न द्वार तोड़कर मथुरापुरी में प्रविष्ट हुए और आयुधशाला पर अपना अधिकार कर लिया। परचक्र के आगमन

से नगरजन भयभीत हो गये; किन्तु शत्रुघ्न ने ऐसा कहकर उन्हें धैर्य बँधाया 'यहाँ श्री राम का राज्य है, उसमें किसी को दु:ख या भय नहीं है।'

शत्रुघ्न ने मथुरा में प्रवेश किया है, यह सुनकर राजा मधु क्रोधपूर्वक उपवन से नगर की ओर आया परन्तु शत्रुघ्न के योद्धाओं ने उसे नगर में प्रविष्ट नहीं होने दिया। जिस प्रकार मुनिराज के हृदय में मोह का प्रवेश नहीं होता; उसी प्रकार राजा अनेक उपाय करने पर भी नगर में प्रवेश नहीं कर सका। यद्यपि वह त्रिशूलरहित हो गया था, तथापि महा-अभिमान के कारण उसने शत्रुघ्न से युद्ध किया। युद्ध में राजा मधु का पुत्र लवणसागर, सेनापति कृतान्तवक्र के प्रहार से मृत्यु को प्राप्त हुआ। पुत्र की मृत्यु देखकर मधु राजा अत्यन्त शोक एवं क्रोधपूर्वक शत्रुघ्न की सेना से युद्ध करने लगा किन्तु जिस प्रकार जिनशासन के स्याद्वादी पण्डित के समक्ष कोई एकान्तवादी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार शत्रुघ्न की वीरता के समक्ष मधु राजा के योद्धा न टिक सके।

शत्रुघ्न को दुर्जय समझकर, स्वयं को त्रिशूल/आयुधरहित जानकर तथा पुत्र की मृत्यु और अपनी भी अल्पायु देखकर मधु राजा अत्यन्त विवेकपूर्वक विचार करने लगा कि 'अहो! संसार का समस्त आरम्भ महा हिंसारूप एवं दु:खदायी है, इसलिए सर्वथा त्याज्य है। मूढ़ जीव इस क्षणभंगुर संसार में सुख मान रहे हैं। वस्तुत: इस जगत में धर्म ही प्रशंसनीय है। यह दुर्लभ मनुष्य देह पाकर भी जो जीव धर्म में बुद्धि नहीं लगाता, वह मोह द्वारा ठगा गया है।

अरे! मुझ पापी ने असाररूप संसार को सार समझा, क्षणभंगुर शरीर को ध्रुव माना और अभी तक आत्महित नहीं किया... जब मैं स्वाधीन था, तब मुझे सुबुद्धि उत्पन्न नहीं हुई, अब तो मेरा अन्तकाल आ गया है.... सर्प डस ले, उस समय दूर देश से मणिमन्त्र या औषधि मँगवाने से क्या लाभ? इसलिए अब मैं सर्व चिन्ताओं को छोड़कर निराकुलरूप से अपने मन को समाधान करूँ।'

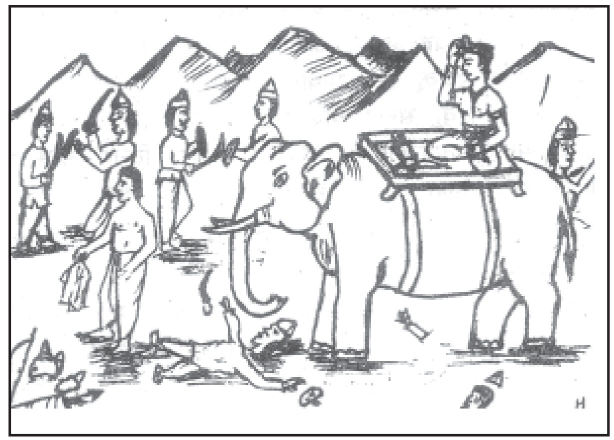

— ऐसा विचार करके युद्ध में हाथी के हौदे पर बैठा हुआ मधु राजा, मुनि बनने की भावना भाने लगा.... और बारम्बार अरहन्त-सिद्ध आचार्य-उपाध्याय एवं साधुओं को मन-वचन-काय से नमस्कार करने लगा और विचारने लगा कि अरहन्त-सिद्ध-साधु तथा केवली भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म ही मङ्गलरूप है, वही उत्तमरूप है तथा उसी की मुझे शरण है।

ढाई द्वीप के भीतर कर्मभूमि में (पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच विदेह में) जो अरहन्तदेव हैं, वे मेरे हृदय में वास करें... मैं बारम्बार उन्हें नमस्कार करता हूँ... अब मैं सर्व पापों को जीवन पर्यन्त छोड़ता हूँ.... अनादिकाल से संसार में उपार्जित मेरे दुष्कृत्य मिथ्या

होओ.... अब मैं तत्त्वज्ञान में स्थिर होकर, त्यागने योग्य जो रागादिक, उनका त्याग करता हूँ तथा ग्रहण करने योग्य जो निजभाव-जिनभाव, उसे ग्रहण करता हूँ। ज्ञान दर्शन मेरा स्वभाव ही है, वह मुझसे अभेद है, और शारीरिक समस्त पदार्थ मुझसे पृथक् हैं... संन्यास मरण के समय भूमि अथवा तृणादि का त्याग, वह सच्चा त्याग नहीं है किन्तु दोषरहित — ऐसे शुद्ध आत्मा को अपनाना ही त्याग है। — ऐसा विचार करके मधु राजा ने दोनों प्रकार के परिग्रहों का भावपूर्वक त्याग किया।

जिसका शरीर अनेक घावों से घायल है - ऐसा मधु राजा, हाथी की पीठ पर बैठा-बैठा केशलोंच करने लगा... वीररस छोड़कर उसने शान्तरस अङ्गीकार किया... और महा धैर्यपूर्वक अध्यात्म योग में आरूढ़ होकर देह का ममत्व छोड़ दिया...।

मधु राजा की ऐसी परम शान्तदशा देखकर शत्रुघ्न कहने लगे 'हे महान आत्मा! मेरा अपराध क्षमा करो।... धन्य है आपके वैराग्य को....।' युद्ध के समय पहले मधु राजा का वीररस और फिर शान्तरस देखकर देव भी आश्चर्यसहित पुष्पवृष्टि करने लगे..... महाधीर मधु राजा एक क्षण में समाधिमरण करके तीसरे स्वर्ग में देव हुए और शत्रुघ्न ने उनकी स्तुति करके मथुरा नगरी में प्रवेश किया।

मथुरा में सप्त ऋषि

राजा मधु के मरण का समाचार सुनकर, उनका परममित्र चमरेन्द्र महाक्रोधपूर्वक पाताल से निकलकर मथुरा आने के लिये उद्यमी हुआ। उस समय गरुड़ेन्द्र उसके निकट आया और पूछा 'हे दैत्येन्द्र! कहाँ के लिये प्रस्थान कर रहे हो?'

चमरेन्द्र ने कहा 'जिसने मेरे परममित्र मधु को मारा है, उसे कष्ट देने जा रहा हूँ।'

तब गरुड़ेन्द्र ने कहा 'क्या विशल्या का माहात्म्य आप नहीं जानते? जब युद्ध में रावण की अमोघ शक्ति से लक्ष्मणजी मूर्छित हो गये थे, तब विशल्या के स्नानजल के प्रभाव से ही वह अमोघ शक्ति भाग गई थी, क्या यह आपने नहीं सुना है? (विशल्या लक्ष्मणजी की पटरानी थी।)'

चमरेन्द्र बोला 'विशल्या की वह अद्भुत शक्ति कौमार्यावस्था में ही थी, इस समय तो वह विषरहित नागिन समान हो गयी है, जब तक उसने वासुदेव का आश्रय नहीं किया था, तभी तक ब्रह्मचर्य के प्रसाद से उसमें असाधारण शक्ति थी। यद्यपि इस समय वह पवित्र है किन्तु ब्रह्मचारिणी नहीं है; इसलिए अब उसमें वह शक्ति नहीं रही। मैं अपने मित्र मधु राजा के शत्रु से अवश्य बदला लूँगा।' — ऐसा कहकर वह चमरेन्द्र मथुरा की ओर चल दिया।

मथुरा आकर चमरेन्द्र ने देखा कि यहाँ तो स्थान-स्थान पर उत्सव मनाया जा रहा है... जैसा उत्सव मधु राजा के समय में

होता था, इस समय भी नगरजन वैसा ही मना रहे हैं। यह देखकर चमरेन्द्र ने विचार किया 'अरे! यह प्रजाजन महादुष्ट एवं कृतघ्नी हैं। नगर का स्वामी, पुत्रसहित मृत्यु को प्राप्त हुआ और दूसरे राजा ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया, फिर भी इन्हें शोक नहीं है, उल्टा हर्ष मना रहे हैं। जिसकी छत्रछाया में इतने समय तक सुखपूर्वक रहे, उस मधु राजा की मृत्यु से इन लोगों को दुःख क्यों नहीं हुआ? यह लोग कृतघ्नी और मूर्ख हैं, इसलिए मैं इनका नाश कर दूँगा, अभी तत्काल ही समस्त मथुरा नगरी को नष्ट करता हूँ।' — इस प्रकार वह असुरेन्द्र महाक्रोधपूर्वक मथुरा नगरी की प्रजा पर घोर उपसर्ग करने लगा। सारे नगर में भयङ्कर मरी व्याधि फैल गयी.... जो जहाँ खड़े थे, वहीं खड़े-खड़े मरने लगे... जो बैठे थे, वे बैठे-बैठे मृत्यु को प्राप्त हुए... और सोनेवाले सोते-सोते मर गये.... इस प्रकार उस भयङ्कर मरी के रोग से सारे नगर में हाहाकार मच गया और देवकृत उपसर्ग समझकर शत्रुघ्न भी अयोध्या लौट आये।

यद्यपि अयोध्या नगरी अति सुन्दर है, तथापि शत्रुघ्न का चित्त वहाँ नहीं लगता, उनका चित्त तो मथुरापुरी में ही अति -आसक्त है... जिस प्रकार सीता के बिना राम उदास रहते थे, उसी प्रकार मथुरा के बिना शत्रुघ्न भी उदास रहते हैं। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं 'जीवों को इष्ट वस्तु का संयोग क्षणभंगुर होता है... और उसका वियोग तीव्र दाह उत्पन्न करता है।'

शत्रुघ्न ने किस कारण से मथुरा की माँग की? उन्हें अयोध्या की अपेक्षा मथुरा का निवास क्यों विशेष प्रिय लगा? स्वर्ग के समान दूसरी अनेकों राजधानियाँ होने पर भी उनकी इच्छा न करके उन्होंने मथुरा की ही इच्छा क्यों की? मथुरा के प्रति शत्रुघ्न को इतनी अधिक प्रीति क्यों? उसके स्पष्टीकरण में शास्त्रकार कहते हैं 'शत्रुघ्न के जीव ने पूर्वकाल में अनेकों भव मथुरा में (मधुपुरी में) धारण किये हैं, इसलिए उन्हें मथुरा के प्रति अधिक स्नेह है। शत्रुघ्न का जीव, संसार में भवभ्रमण करते-करते एक बार मथुरा में यमन देव नामक व्यक्ति हुआ। महाक्रूर धर्मविमुख परिणाम से मरकर उसने तिर्यञ्चगति में अनेकों भव धारण किये और फिर कुलन्धर नाम का दुराचारी ब्राह्मण हुआ, वहाँ से तप करके स्वर्ग में गया, वहाँ से फिर मथुरा नगरी में चन्द्रप्रभा राजा का अचल नामक पुत्र हुआ।

एक बार जंगल में अचलकुमार को काँटा लग गया और वह अपकुमार नाम के पुरुष ने निकाला, इसलिए दोनों में मित्रता हो गयी। जब अचलकुमार ने अनेक देशोंसहित मथुरा का राज्य प्राप्त किया, तब अपने मित्र अपकुमार को उसकी जन्मभूमि श्रावस्ती नगरी का राज्य दिया और दोनों मित्र एक साथ अपना-अपना राज्य करने लगे।

एक दिन दोनों मित्रों ने यशसमुद्र आचार्य के निकट मुनिदीक्षा धारण की और सम्यग्दर्शनपूर्वक परमसंयम की आराधनापूर्वक समाधिमरण करके उत्कृष्ट देव हुए। वहाँ से च्यवकर अचलकुमार का जीव तो राजा दशरथ की सुप्रभा रानी का पुत्र शत्रुघ्न हुआ और उसके मित्र अपकुमार का जीव कृतान्तवक्र सेनापति हुआ। इस कारण शत्रुघ्न को मथुरा नगरी से विशेष प्रीति थी।

इधर मथुरा नगरी में चमरेन्द्रकृत घोर मरी व्याधि का उपद्रव चल रहा था। उसी समय आकाश में गमन करनेवाले और सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे चारण ऋद्धिधारी सात ऋषि-मुनिवर विहार करते-करते मथुरा नगरी में पधारे। **श्री सुरमन्यु, श्री मन्यु, श्री निचय, श्री सर्वसुन्दर, श्री जयवान, श्री विनयलालस और श्री संजयमित्र नामक के सातों मुनिवर महाचारित्र के धारी और सगे भाई थे।**

वे श्रीनन्दन राजा और धारिणीसुन्दरी रानी के पुत्र थे। प्रीतङ्कर स्वामी का केवलज्ञान देखकर वे सातों पुत्र पिता के साथ ही वैराग्य को प्राप्त हुए और मात्र एक महीने के तुम्बरु नामक पुत्र को राज्य देकर पिता तथा सातों पुत्र प्रीतङ्कर स्वामी के निकट दीक्षा लेकर मुनि हुए थे।

श्रीनन्दन राजा तो केवली हुए और यह सातों पुत्र चारणऋद्धि आदि अनेक ऋद्धियों के धारी श्रुतकेवली हुए। वे गगनविहारी सप्तर्षि श्रुतकेवली भगवन्त पृथ्वी को पावन करते-करते मथुरापुरी में पधारे और चातुर्मास के लिये मथुरा के वन में एक वटवृक्ष के नीचे विराजमान हुए।

सप्तर्षिमुनि भगवन्तों का पुनीत पदार्पण होते ही उनके तप के प्रभाव से चमरेन्द्र द्वारा फैलाया गया मरी का घोर उपसर्ग एकदम शान्त हो गया तथा समस्त मथुरा नगरी सुखरूप हो गयी। जिस प्रकार सूर्य का आगमन होने से अन्धकार भाग जाता है; उसी प्रकार सप्तर्षि मुनिवरों का आगमन होते ही उनके प्रताप से मरी रोग का घोर उपद्रव दूर हो गया तथा सारे नगर में शान्ति छा

गई। फल-फूल खिल गये, वृक्ष और बेलें लहलहा उठीं, बिना बोये धान्य उगने लगे, समस्त रोगरहित मथुरापुरी अति शोभायमान हो गयी और नगरजनों ने महा-आनन्दपूर्वक सातों मुनिवरों के दर्शन-पूजन किये।

(सप्तर्षि मुनिवरों के आगमन का यह आनन्दमय प्रसङ्ग आज भी मथुरा नगरी के जिनमन्दिर में अङ्कित है। जिनके दर्शन करते भक्तों के हृदय में आनन्द की ऊर्मि जागृत हुए बिना नहीं रहती। मथुरा में 'सप्तर्षि टीला' नाम का एक स्थान भी है।)

मथुरा में चातुर्मास और अयोध्या में आहार

एक समय की बात है कि श्री सुरमन्यु आदि सप्त ऋद्धिधारी महा मुनिराज मथुरा नगरी के वन में चातुर्मास हेतु ठहरे हुए थे। चारणऋद्धि के प्रभाव से उन महामुनिराजों को चातुर्मास में भी गमन सम्बन्धी दोष नहीं लगता था; अत: वे कभी किसी नगर में, कभी किसी नगर जाते, वहाँ के मन्दिरों की वन्दना करते, योग मिलने पर वहीं आहार करते। आकाशमार्ग से क्षणमात्र में कभी पोदनपुर पहुँचकर आहार लेते, तो कभी विजयपुर जाते, कभी उज्जैन तो कभी सौराष्ट्र में पधारते। इस प्रकार किसी भी नगरी में जाकर उत्तम श्रावक के यहाँ आहार लेते हैं और फिर मथुरा नगरी में आ जाते हैं। वे धीर-वीर महाशान्त मुनिवर एक बार आहार के समय अयोध्या नगरी में पधारे और अर्हदत्त सेठ के भवन के निकट पहुँचे।

अचानक उन मुनिवरों को देखकर अर्हदत्त सेठ ने विचार किया 'अरे! मुनि तो चातुर्मास में विहार करते नहीं हैं और यह

मुनि यहाँ केसे आ पहुँचे ? चातुर्मास के पूर्व तो यह मुनि यहाँ आये नहीं थे। अयोध्या के आस-पास वन में, गुफाओं में, नदी किनारे, वृक्षों के नीचे या वन के चैत्यालयों में जहाँ-जहाँ मुनि चातुर्मास कर रहे है, उन सबकी वन्दना मैं कर चुका हूँ, किन्तु इन साधुओं को मैंने कभी नहीं देखा, अवश्य ही यह मुनि आचाराङ्ग सूत्र की आज्ञा में पराङ्मुख स्वेच्छाचारी मालूम होते हैं; इसीलिए तो वर्षाकाल में जहाँ-तहाँ घूम रहे हैं। यदि जिनाज्ञा के पालक होते तो वर्षाकाल में विहार कैसे करते? इसलिए यह मुनि जिनाज्ञा से बाहर हैं।' — ऐसा सोचकर अर्हदत्त सेठ ने मुनियों का सत्कार नहीं किया और वहाँ से चले गये किन्तु उनकी पुत्रवधु ने अत्यन्त भक्ति से विधिपूर्वक मुनियों को आहारदान दिया।

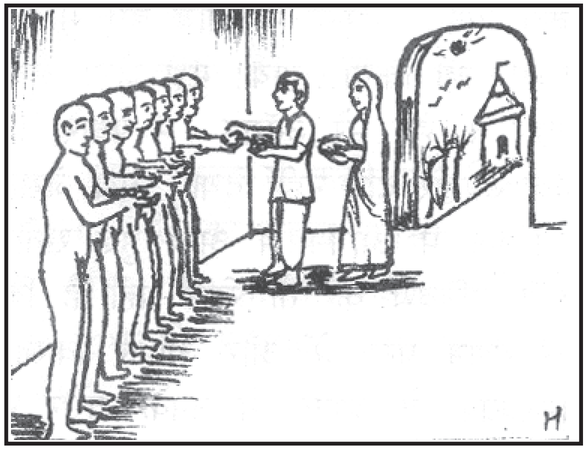

आहार ग्रहण करके सातों मुनिवर भगवान के चैत्यालय में आये, जहाँ द्युतिभट्टारक आचार्य विराजमान थे। सातों ऋषि-मुनिवर ऋद्धि के प्रभाव से चार अंगुल ऊपर अलिप्तरूप से अर्थात् धरती से चार अंगुल ऊपर चले आ रहे थे, चैत्यालय में आकर उन्होंने धरती पर चरण रखे। उन सप्तर्षि भगवन्तों को देखते ही द्युतिभट्टारक आचार्य खड़े हुए और अत्यन्त आदरपूर्वक उन्हें नमस्कार किया।

उनके शिष्यों ने भी नमस्कार किया। सप्तर्षि भगवन्तों ने उनसे धर्मचर्चा की और फिर चैत्यालय में जिनवन्दना करके वापिस मथुरा नगरी लौट आये।

सप्तर्षि मुनिवरों के जाने पर कुछ ही समय पश्चात् अर्हदत्त सेठ चैत्यालय में आये, तब द्युतिभट्टारक आचार्य ने उनसे कहा कि — 'सात महर्षि महायोगीश्वर चारण मुनि यहाँ पधारे थे, तुमने भी उनके दर्शन अवश्य किये होंगे, वे मुनिवर महातप के धारक हैं और मथुरा नगरी में चातुर्मास कर रहे हैं। चारणऋद्धि से गगनविहार करके आहार के लिये चाहे जहाँ चले जाते हैं। आज उन्होंने अयोध्यापुरी में आहार लिया और फिर चैत्यालय की वन्दना के हेतु यहाँ पधारे। हमारे साथ धर्मचर्चा भी की और फिर मथुरा नगरी लौट गये। वे महावीतरागी गगनगामी, परम उदारचेष्टा के धारक मुनिवर वन्दनीय हैं।' इत्यादि प्रकार से आचार्य के मुख से चारण मुनियों की महिमा सुनकर, श्रावक शिरोमणि अर्हदत्त सेठ खेदखिन्न होकर अत्यन्त पश्चाताप करने लगे कि —

'अरे! मुझे धिक्कार है... मैं मुनिवरों को नहीं पहिचान सका। अपने आँगन में आये हुए मुनि भगवन्तों का मैंने आदर-सत्कार नहीं किया... हाय! मुझे जैसा अधम कौन होगा? वे मुनिवर आहार के लिये मेरे आँगन में पधारे, किन्तु मैंने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहारदान नहीं दिया... मुझ जैसा पामर अज्ञानी दूसरा कौन होगा कि मैं आँगन में आये हुए सन्तों को नहीं पहिचान सका, चारण मुनिवरों की तो रीति यही है कि चातुर्मास में निवास तो एक स्थान पर करें और आहार किसी भी नगर में जाकर लें। चारणऋद्धि के प्रभाव से उनके शरीर द्वारा जीवों को बाधा नहीं पहुँचती। अहा!

जब तक मैं उन चारणऋद्धिधारी मुनिभगवन्तों के दर्शन नहीं करूँगा, तब तक मेरे मन का सन्ताप नहीं मिट सकता।' — इस प्रकार पश्चातापसहित अत्यन्त भक्तिपूर्वक चित्त से अर्हदत्त सेठ सातों मुनिवरों के दर्शन की कामना करने लगे।

कार्तिक पूर्णिमा निकट आते ही सम्यग्दृष्टि अर्हदत्त सेठ ने समस्त परिवारसहित सप्तर्षि मुनिवरों की वन्दना-पूजा के लिये अयोध्या से मथुरा की ओर प्रयाण किया। जिन्होंने मुनिवरों की अपार महिमा को जाना है, राजा के समान जिनका वैभव है — ऐसे अर्हदत्त सेठ बारम्बार अपनी निन्दा और मुनिवरों की प्रशंसा करते हुए रथ, हाथी, घुड़सवार और पैदलों की विशाल सेनासहित योगीश्वरों की पूजा के लिये मथुरा की ओर चल पड़े। महाविभूतिसहित और शुभध्यान में तत्पर अर्हदत्त सेठ, मुनिवरों के चरणों में आ पहुँचे। उन धर्मात्मा ने विधिपूर्वक सप्तर्षि मुनिवरों की वन्दना एवं पूजा की तथा मथुरा नगरी को अनेक प्रकार से सजाया। मथुरा नगरी स्वर्ग के समान सुशोभित हो गई।

यह सब वृत्तान्त सुनकर शत्रुघ्नकुमार भी तुरन्त सप्तर्षि मुनिवरों के समीप आ पहुँचे और उनकी माता सुप्रभा भी मुनिभक्ति से प्रेरित हो उनके साथ आई। शत्रुघ्न ने अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिवरों से धर्म का श्रवण किया।

मुनिवरों ने कहा 'यह संसार असार है, एक वीतरागता ही सारभूत है। जिनदेव द्वारा कहा गया वीतरागमार्ग ही जगत के जीवों को शरणभूत है। जिनधर्म के अनुसार उसकी आराधना करो।'

उपदेश सुनकर शत्रुघ्नकुमार विनय से कहने लगे 'हे देव! आपके पदार्पण से मथुरा नगरी का महान उपसर्ग मरी रोग दूर हुआ, दुर्भिक्ष गया और सुभिक्ष का आगमन हुआ, सर्व जीवों को शान्ति एवं धर्मवृद्धि हुई; इसलिए हे प्रभु! कृपा करके आप कुछ दिनों तक यहीं विराजें।'

तब श्री मुनिराज ने कहा 'हे शत्रुघ्न! जिनआज्ञा के अनुसार अधिक समय तक रहना योग्य नहीं है, अब हमारे चातुर्मास का काल पूर्ण हुआ... मुनि तो अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं। यह चौथा काल धर्म के उद्योत का है, इसमें अनेक जीव मुनिधर्म धारण करते हैं, जिनआज्ञा का पालन करते हैं और महामुनि, केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष जाते हैं। बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ तो मोक्ष पधारे, अब इस भरतक्षेत्र में नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान — यह चार तीर्थङ्कर होंगे।

हे भव्य! जिनशासन के प्रभाव से मथुरा नगरी का उपद्रव दूर हो गया है, अब मथुरा के समस्त निवासियों को जिनधर्म में तत्पर होना, दया पालन करना, साधर्मियों के प्रति वात्सल्य एवं जिनशासन की प्रभावना करना, घर-घर में जिनबिम्बों की स्थापना, जिनपूजन तथा अभिषेक की प्रवृत्ति करना चाहिए, उससे सर्वत्र शान्ति होगी। जो जिनधर्म की आराधना नहीं करेगा, उसी पर आपदा आयेगी किन्तु जो जिनधर्म का आराधन करेंगे, उनसे तो आपदा ऐसी भागेगी, जिस प्रकार गरुड़ को देखकर नागिन भागती है। इसलिए जिनधर्म की आराधन में सर्व प्रकार से तत्पर रहना....'

शत्रुघ्न ने कहा 'प्रभु! आपकी आज्ञानुसार समस्त प्रजा धर्माराधन में प्रवृत्त होगी।'

तत्पश्चात् मुनिवर तो आकाश मार्ग से विहार कर गये और अनेक निर्वाण भूमियों की वन्दना करके अयोध्या नगरी में पधारे। वहाँ सीताजी के घर आहार किया। सीताजी ने महा हर्षपूर्वक श्रद्धादि गुणोंसहित मुनिवरों को प्रासुक आहार दिया।

इधर शत्रुघ्न ने मथुरा नगरी के बाहर तथा भीतर अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराया, घर-घर में जिनबिम्बों की स्थापना करायी और धर्म का महान उत्सव किया। समस्त नगरी उपद्रवरहित हो गयी। वन-उपवन, फल-फूलों से शोभायमान हो उठे, सरोवरों में कमल खिल गये और भव्यजीवों के हृदय कमल प्रफुल्लित होकर धर्माराधना में तत्पर हुए। इस प्रकार सप्तर्षि मुनिभगवन्तों के प्रताप से मथुरा नगरी का उपद्रव दूर हो गया और महान धर्मप्रभावना हुई।

कथा के अन्त में शास्त्रकार कहते हैं कि जो जीव इस अध्याय को पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा साधुओं की भक्ति में अनुरागी होकर मुनिवरों का समागम चाहेंगे, उन जीवों को मनवांछित फल की प्राप्ति होगी अर्थात् वे साधुओं की सङ्गति पाकर धर्माराधन द्वारा परमपद को प्राप्त करेंगे।

उन सप्तर्षि मुनि-भगवन्तों को हमारा नमस्कार हो। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

12

धन्य पुत्र... और धन्य वह माता!

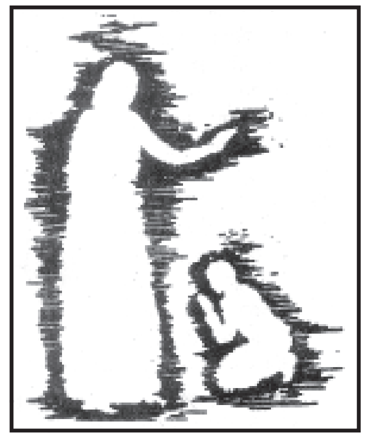

कुँवर कन्हैया जैसे आठ वर्ष के कोमल राजकुमार को आत्मा के भानसहित वैराग्य होने पर जब आनन्द में लीन होने की भावना जागृत होती है, तब वह माता के पास जाकर दीक्षा के लिये आज्ञा माँगता है — 'हे माता! अब मैं आत्मा के परम आनन्द की प्राप्ति की साधना के लिये जाता हूँ.... हे माता! अब मैं सुखी होने के लिये जाता हूँ...' माता की आँखों से आँसुओं की धारा बह रही है और पुत्र के रोम-रोम में वैराग्य की छाया छा रही है।

वह कहता है — 'अरे माता! जननी होने के नाते तुम मुझे सुखी करना चाहती हो तो अब मैं मेरे अपने सुख की साधना के लिये जाता हूँ, तुम मेरे सुख में बाधक न होओ, तुम तो मुझे अनुमति दो। माँ! मैं अपने आत्मानन्द की साधना के लिये जाता हूँ, उसमें तुम दुःखी होकर विघ्न न डालो। हे जननी! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आत्मा के आनन्द में लीन होने जा रहा हूँ।'

माता भी धर्मात्मा है, अतः वह पुत्र से कहती है — 'बेटा! मैं तेरे सुख के पथ में विघ्न नहीं बनूँगी, तेरे सुख का जो पन्थ है, वही मेरा पन्थ है।' माता की आँखों से आँसू की धारा बहती जाती है और वैराग्यपूर्वक कहती है — 'हे पुत्र! तू आत्मा के परम-आनन्द में लीन होने के लिये जाता है, तो मैं तेरे सुख के मार्ग में बाधक नहीं बनूँगी... मैं तुझे नहीं रोकूँगी... तू मुनि होकर आत्मा के परमानन्द की साधना के लिये तैयार हुआ है, उसकी मैं अनुमोदना करती हूँ। बेटा! तू आत्मा के निर्विकल्प आनन्दरस का पान कर। हमें भी वही करने योग्य है।' — इस प्रकार माता पुत्र को आज्ञा देती है।

अहा! आठ वर्ष का कुँवर जब वैराग्यपूर्वक इस प्रकार माता से आज्ञा माँगता होगा और माता जब उसे वैराग्यपूर्वक सुख के पन्थ में विचरने की आज्ञा देती होगी, वह अपूर्व प्रसङ्ग कैसा होगा! फिर वह छोटा-सा राजकुमार दीक्षा लेकर, मुनि होकर, एक हाथ में छोटा-सा कमण्डल और दूसरे हाथ में पीछी लेकर निकलता होगा, उस समय तो ऐसा लगता होगा मानो छोटे-से सिद्ध भगवान ऊपर से उतर आये हों! वैराग्य

का अद्‌भुत दृश्य!! आनन्द में लीनता! वाह रे वाह, धन्य है वह दशा!!

और फिर जब वे आठ वर्ष के छोटे से मुनिराज, आहार के लिये निकलते होंगे, आनन्द में झूलते हुए धीरे-धीरे ईर्यासमिति पूर्वक चलते होंगे और आहार के लिये नन्हें-नन्हें हाथों की अञ्जलि जोड़कर खड़े होते होंगे, वह कैसा अद्‌भुत दृश्य होगा!

फिर वे आठ वर्ष के मुनिराज अपने अन्तःतत्त्व कारणपरमात्मा के बल द्वारा आत्मध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट करते हैं और सिद्ध हो जाते हैं। — ऐसी आत्मा की शक्ति है। आज भी विदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धरादि भगवान के निकट आठ-आठ वर्ष के राजकुमारों की दीक्षा के ऐसे प्रसङ्ग बनते हैं। ●

(पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों से सङ्कलित - ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

मुनिराज : प्रतिकूलता में स्वभाव का उग्र अवलम्बन

जैसे, कामधेनु गाय को जब दुहे तब दूध देती है, उसी प्रकार मुनिराज का यह भगवान आत्मा कामधेनु गाय जैसा है। जब वे अन्तर्मुख एकाग्र होते हैं, तब अन्दर से अतीन्द्रिय आनन्द झरता है क्योंकि कैसी भी प्रतिकूलता के समय भी वे प्रबल पुरुषार्थपूर्वक निजात्मद्रव्य का अवलम्बन लेते हैं, उन्हें पञ्चम काल, हीन संहनन, सेवा करनेवालों का अभाव इत्यादि कोई बाधक नहीं है। *(- वचनामृत प्रवचन, गुजराती, 4/117)*

13

भवरोग की दवा

जब अतिशय रूपवाले चक्रवर्ती सनतकुमार को मुनिदशा

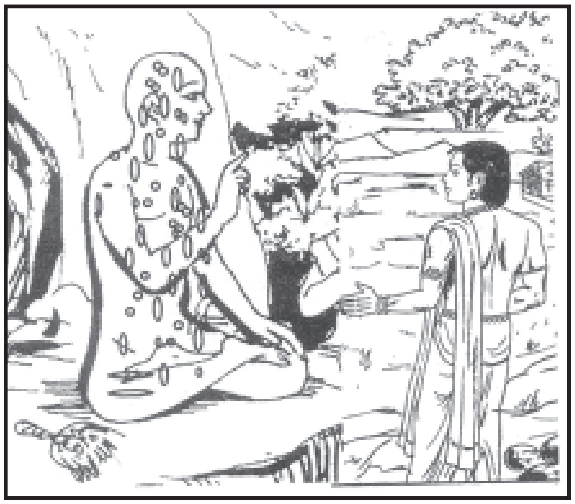

में भयङ्कर कोढ़ रोग हो गया, तब उनके धैर्य की प्रशंसा सुनकर एक देव, वैद्य का रूप धारण करके आया और कहने लगा – 'प्रभु! आपकी आज्ञा हो तो मेरी औषधि से आपका रोग एक क्षण में मिट सकता है।'

उस समय मुनिराज ने कहा – 'हे वत्स! इस शरीर का कोढ़ रोग मिट जाए – ऐसी ऋद्धि तो मेरे थूक में ही है, परन्तु मुझे देह के रोग की जरा भी चिन्ता नहीं है, मुझे तो अपनी आत्मा को भवरोग से मुक्त करना है। यदि उसकी दवा तुम्हारे पास हो तो भवरोग दूर कर दो।'

तब देव ने कहा 'हे प्रभु! इस भवरोग को मिटाने की रत्नत्रय औषधि तो आपके पास ही है।' और अन्त में सचमुच मुनिराज ने रत्नत्रयरूपी वीतरागी औषधि से अपना भवरोग मिटाया।

इस दृष्टान्त से श्रीगुरु कहते हैं कि 'हे जीव! तू देह की चिन्ता मत कर, आत्मा को दुःखी करनेवाले भवरोग को मिटाने का उपाय कर।

हे जीव! यदि तुम जन्म-जरा-मरण के रोग को मिटाना चाहते हो और अजर-अमर होना चाहते हो तो धर्मरूपी अमृत का पान करो।' संसार के डाक्टरों ने टी.बी., कैन्सर आदि की दवा का अनुसन्धान तो किया, परन्तु जन्म-मरण के रोग की कोई दवा उनके पास नहीं है। उस भवरोग को मिटाने की दवा तो भगवान जिनदेव ने ही खोजी है।

वह कौन-सी औषधि है? 'वह रत्नत्रय धर्मरूपी रसायन ही उस भवरोग को मिटाने की अचूक दवा है, उसका सेवन करो। धर्म के सेवन से भव-रोग मिट जाता है और मोक्ष प्राप्त होता है। जब शरीर ही नहीं रहा तो फिर रोग कैसा? जन्म-मरण कैसा?

हे भव्य! तू धर्मरूपी-औषधि के सेवन से सिद्धपद प्राप्त कर और अजर-अमर हो जा।' ●

14

आप कुछ भी कहो

'**नमोऽस्तु**' की विनम्र ध्वनि ने ऋषिराज का ध्यान भङ्ग किया तो उनके मुखारबिन्द से सहज ही मङ्गल आशीर्वाद प्रस्फुटित हुआ — '**धर्मवृद्धिरस्तु**'

विनत राजश्रेष्ठी का म्लान मुख देखकर ऋषिराज बोले – 'बोलो, क्या बात है?'

अन्तर के भावों को छिपाते हुए श्रेष्ठीराज कहने लगे –

'कुछ नहीं, बस, आपके दर्शन करने ही चला आया हूँ।'

'असमय में आगमन एवं म्लान मुख सबकुछ कह रहा है; छिपाने का प्रयत्न व्यर्थ है, आवश्यक भी नहीं।'

'महाराज छुपाने की तो कुछ बात नहीं, पर....!'

'पर सङ्कोच किस बात का? जब.....'

'महाराज! आपकी यह पीड़ा देखी नहीं जाती, सही नहीं जाती; दिगम्बरत्व का अपमान बरदाश्त नहीं होता।'

'हमें कैसी पीड़ा? हम तो अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न रहते हैं!'

'आपका सम्पूर्ण शरीर कुष्ठ से गल रहा है।'

'यह तो जड़-पुद्गल का परिणमन है, इससे हमारा क्या लेना-देना? जब तक संयोग है, तब तक रहेगा। पुण्य-पाप के अनुसार इसका जैसा परिणमन होना होगा, होता रहेगा। हम तो इससे भिन्न ज्ञान के घनपिण्ड आनन्द के कन्द चेतनतत्त्व हैं, सो उसमें ही मग्न हैं।'

'यह सब तो ठीक है, अध्यात्म की बातें हैं, पर आपको इसके लिए भी कुछ करना चाहिए — यही हमारा नम्र निवेदन है।'

'हम इसका क्या कर सकते हैं?'

'आप क्या नहीं कर सकते हैं? आप कुवादियों का मद मर्दन करनेवाले वादिराज हैं। आपकी वाणी में वह शक्ति है कि जो उसमें प्रस्फुटित हो जावे, वह होकर ही रहता है। इसका परिचय इस जगत को कई बार प्राप्त हो चुका है। आपके शब्द ही मन्त्र हैं, उनका जादू जैसा प्रभाव हम कई बार देख चुके हैं। यदि आप चाहें तो यह कुष्ठ एक समय भी नहीं रह सकता।'

'बहुत भ्रम में हो श्रेष्ठीराज! ऐसा कुछ भी नहीं है। किसी का चाहा कुछ भी नहीं होता। उसी भव में मोक्ष जानेवाले सनतकुमार चक्रवर्ती को भी मुनि-अवस्था में सात सौ वर्ष तक यह कुष्ठ व्याधि रही थी, तो हमारी क्या बात है?

दूसरे, इसने क्या बिगाड़ा है हमारा, जो हम इसका अभाव चाहने लगें। हमनें कुछ चाहने के लिए घर नहीं छोड़ा है, चाहना छोड़ने के लिए ही हम दिगम्बर हुए हैं। हमें इन विकल्पों में न उलझाओ। शास्त्रों में ठीक ही कहा है कि गृहस्थों की अधिक

सङ्गति ठीक नहीं। वे व्यर्थ की बातों में ही उलझाते हैं, उनसे अन्तर की प्रेरणा मिलना तो सम्भव है नहीं।'

'आप अपने लिए न सही, पर हमारे लिए तो कुछ करो। हमसे यह दु:ख देखा नहीं जाता, दिगम्बरत्व का यह अपमान...'

वे अपनी बात पूरी ही न कर पाये थे कि वादिराज बोले –

'कोई किसी के लिए कुछ नहीं कर सकता। पर इसमें दिगम्बरत्व के अपमान की बात कहाँ से आ गयी? दिगम्बर धर्म आत्मा का धर्म है, शरीर का नहीं। शरीर के विकृत होने से दिगम्बर धर्म का अपमान कैसे हो सकता है?'

ऋषिराज वादिराज बोले जा रहे थे, पर श्रेष्ठीराज कुछ नहीं सुन रहे थे, उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। वे अत्यन्त भावुक हो गये थे।

जब ऋषिराज का ध्यान उनकी ओर गया तो वे बोले –

'तुम्हारी इस व्याकुलता का कारण अगम्य है। सबकुछ साफ-साफ कहो, बात क्या है?'

गद्‌गद् स्वर में श्रेष्ठीराज कहने लगे –

'कल राजसभा में जबकि दरबार खचाखच भरा था, दिगम्बर धर्म की हँसी उड़ाते हुए कुछ विरोधियों ने जब यह कहा कि दिगम्बर साधु कोढ़ी होते हैं, उनमें इतनी भी क्षमता नहीं कि अपने शरीर को स्वस्थ रख लें, तो वे दूसरों का क्या भला करेंगे?

दिगम्बरत्व का यह अपमान मुझसे न सहा गया और मैंने कहा कि – यह सफेद झूठ है, दिगम्बर साधु कोढ़ी नहीं होते, वे सब कुछ कर सकते हैं।

उस समय जोश में मुझे कुछ होश न रहा और मैं यह सब कह गया। पर जब उन लोगों ने कहा कि हमने आज ही नगर में कोढ़ी दिगम्बर साधु देखे हैं तो मुझे आपका ध्यान आया, पर...।

उन लोगों ने महाराजा साहब को बहुत उकसाया तो वे कहने लगे – हम स्वयं कल दिगम्बर मुनिराज के दर्शन करने चलेंगे।'

शान्त गम्भीर ऋषिराज बोले –

'श्रेष्ठीवर, इतना धर्मानुराग भी ठीक नहीं कि उसके आवेग में आप सत्य का भी ध्यान न रखें। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी भला-बुरा नहीं कर सकता – यह दिगम्बर धर्म का अपमान नहीं, सर्वोत्कृष्ट सम्मान है क्योंकि वस्तुस्वरूप ही ऐसा है। यह जन-जन की ही नहीं, बल्कि कण-कण की स्वतन्त्र सत्ता का महान उद्घोष है।'

ऋषिराज बहुत देर तक वस्तु का सत्य स्वरूप समझाते रहे, प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता एवं उसके स्वाधीन परिणमन की सम्यक् स्थिति का परिज्ञान कराते रहे, पर श्रेष्ठीराज की व्याकुलता कम नहीं हुई।

यद्यपि वे कुछ कह न सके, पर उनकी आँखें तो अन्तर को स्पष्ट कर ही रही थीं। उन्होंने जबान से तो कुछ नहीं कहा, पर अश्रुपूरित नेत्रों एवं अवरुद्ध गले से सब-कुछ कह दिया। वे अनिमेष नेत्रों से ऋषिराज को देख रहे थे। वे ऋषिराज के करुणा

–विगलित मानस से कुछ आश्वस्त होना चाहते थे, पर उनमें उन्हें असङ्ग वीतरागता के अतिरिक्त कुछ भी न दिखा।

नगर के निकटस्थ गिरि–गुफा में विराजमान नग्न दिगम्बर सन्त वादिराज के दर्शनार्थ नगरनिवासी उमड़ रहे थे, क्योंकि आज सम्राट भी अपने दरबार के साथ उनके दर्शनार्थ आनेवाले थे। जब गुफा के बाहर बहुत भीड़ इकट्ठी हो गयी तो कोलाहल सुन ऋषिराज बाहर पधारे।

उगते हुए सूर्य के समान दैदीप्यमान कञ्चनवर्णी काया, अतीन्द्रियानन्द से तृप्त, शान्त, गुरुगम्भीर तेजोद्दीप्त मुखमण्डल, नवजात शिशु के समान निर्विकार नग्न दिगम्बर वीतरागी निर्भय मुद्रा के धारी ऋषिराज के दर्शन कर प्रजा के साथ सम्राट भी जय–जयकार कर उठे।

सब आश्चर्यचकित एक–दूसरे की ओर देख रहे थे। श्रेष्ठीराज की आँखों से अब भी अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी, पर ये अश्रु आनन्द के थे। मुनि–निन्दा करनेवालों के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ रही थीं, पर कोई कुछ बोल नहीं रहा था।

समीपस्थ स्वच्छ शिलाखण्ड पर ऋषिराज के विराजमान होने के बाद नतमस्तक सम्राट भी अपने परिवार के साथ वहीं जमीन पर बैठ गये। जनता भी धीरे–धीरे यथास्थान बैठने लगी। कुछ ही क्षणों में जिसको जहाँ स्थान मिला, वह वहीं बैठ गया।

जनता की मूक याचना से द्रवित हो ऋषिराज की दिव्यदेशना प्रवाहित होने लगी। ऋषिराज कह रहे थे –

'सभी आत्मा स्वयं परमात्मा हैं, परमात्मा कोई अलग नहीं

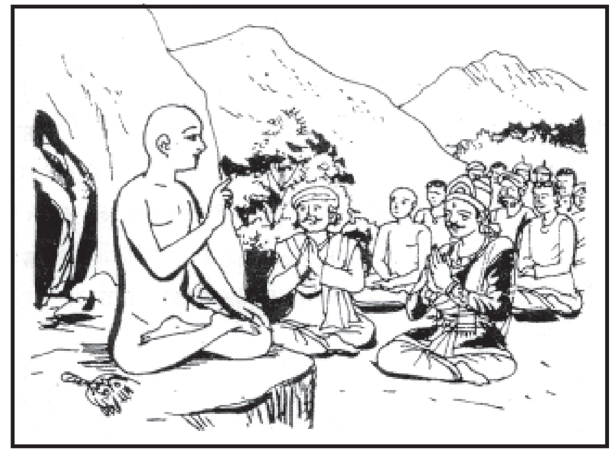

होते। स्वभाव से तो सभी आत्माएँ स्वयं परमात्मा ही हैं, पर अपने परमात्मस्वभाव को भूल जाने के कारण दीन–हीन बन रहे हैं। जो अपने को जानते हैं, पहिचानते हैं और अपने में ही जम जाते हैं, रम जाते हैं, समा जाते हैं; वे पर्याय में भी परमात्मा बन जाते हैं।

जब सभी परमात्मा हैं तो फिर कौन छोटा, कौन बड़ा ? सभी समान ही हैं। अपने भले–बुरे का उत्तरदायित्व प्रत्येक आत्मा का स्वयं का है। कोई किसी का भला–बुरा नहीं कर सकता, पर के भला–बुरा करने का भाव करके यह आत्मा स्वयं ही पुण्य–पाप के चक्कर में उलझ जाता है, बँध जाता है। पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन के कारण हैं। पाप यदि लोहे की बेड़ी है तो पुण्य सोने की – बेड़ियाँ दोनों ही हैं, बेड़ियाँ बन्धन ही हैं।

धर्म तो वस्तु के स्वभाव का नाम है, उसमें फेरफार करने की बुद्धि ही मिथ्या है, अहङ्कार है, दुःख का कारण है, दुःख स्वरूप ही है। जगत के क्रमनियमित परिणमन को ज्ञाता–दृष्टा भाव से स्वीकार कर लेना ही सम्यग्ज्ञान का कार्य है; उसमें हर्ष –विषाद उचित नहीं, आवश्यक भी नहीं।

भगवान, जगत के ज्ञाता-दृष्टा हैं, कर्ता-धर्ता नहीं। जो जगत को साक्षीभाव से अप्रभावित रहकर देख सके, जान सके; वस्तुत: वही भगवान है। भगवान बनने का उपाय भी जगत से अलिप्त रहकर साक्षीभाव से ज्ञाता-दृष्टा बने रहना ही है।

सभी आत्माएँ अपने को जानें, पहिचानें; उसी में जम जावें, रम जावें और अनन्त सुखी हों।'

उपेदशामृत से तृप्त सम्राट खड़े हो गये और हाथ जोड़कर विनम्र भाषा में कहने लगे -

'हमारी यह भूमि आपके पदार्पण से धन्य हो गई। जब आपके दर्शन ही भवतापहारी हैं तो वचनामृतों का तो कहना ही क्या ?'

ऋषिराज किञ्चित् मुस्कराये, फिर बोले -

'किसकी भूमि ? भूमि, भूमि की है; यह आज तक न किसी की हुई है और न होगी। भवताप का अभाव तो स्वयं के आत्मा के दर्शन से होता है, दूसरों के दर्शन से आज तक कोई भवमुक्त नहीं हुआ और न कभी होगा। भवतापहारी तो पर और पर्याय से भिन्न निज परमात्मत्त्व ही है। उसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है, उसके परिज्ञान का नाम ही सम्यग्ज्ञान है और उसका ध्यान ही सम्यक्चारित्र है। अत: उसका जानना, मानना और ध्यान करना ही भव का अभाव करनेवाला है।'

मस्तक झुकाकर सम्राट ने ऋषिराज की बात को सम्मान दिया और अपनी आन्तरिक उत्सुकता न दबा पाने के कारण उनके मुख से सहज ही निकला -

'हमने तो आपके बारे में सुना था कि आप कुष्ठ....'

उनकी बात पूरी ही न हो पाई थी कि ऋषिराज बोल उठे -

'हम नहीं; हमारी यह देह अवश्य कोढ़ी थी। हम तो देह - देवल (देवालय) में विराजमान भगवान आत्मा हैं, आप भी देह-देवल में विराजमान भगवान आत्मा ही हैं। मन्दिर के विकृत हो जाने से उसमें विराजमान देवता विकृत नहीं हो जाते।'

'यह तो ठीक, पर देह-देवालय ठीक कैसे हुआ ?'

'हम नहीं जानते, हम तो यह भी नहीं जानते कि यह विकृत भी कब और कैसे हुआ ? पुण्य-पाप के उदयानुसार यह सब तो अपने-अपने क्रमानुसार होता ही रहता है; हम किस-किस को जाने, किस-किस की चिन्ता करें, हम तो अपने में ही तृप्त हैं।'

'क्या आपने इसके लिए कुछ भी नहीं किया ?'

'पर के परिणमन में हम कर भी क्या सकते थे, आवश्यकता भी क्या थी ?'

'भक्ति, मन्त्र, तन्त्र.... ?'

'भक्ति, जिनभक्ति तो हमारा दैनिक कर्तव्य है, आवश्यक कर्तव्य है, उससे इसका क्या लेना-देना ?

देह सम्बन्धी मिथ्या विकल्पों में उलझना ऋषियों का कार्य नहीं। विकल्पों से होता भी क्या है ? पर में कर्तृत्व के सभी विकल्प नपुंसक ही होते हैं, उनसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। हाँ, यदि उनका मेल कभी जगत में सहज परिणमन से सहज ही हो जाए तो अनादिकालीन मिथ्यामान्यताएँ और भी पुष्ट हो जाती हैं।'

'तो इसमें आपने कुछ भी नहीं किया?'

'तत्सम्बन्धी विकल्प भी नहीं; यदि मुझे ऐसा विकल्प भी होता तो वह मेरे साधुत्व के लिए अभिशाप ही होता। फिर यह देखिये मेरी कनिष्ठा अँगुली में अब भी कुष्ठ शेष है। यदि मेरे मिटाने से मिटता तो मैं इसे शेष क्यों रखता?'

इस सम्पूर्ण संवाद को सुन रही सम्पूर्ण जनता के मुख से एक साथ निकला –

'धन्य हैं, धन्य हैं; सच्ची साधुता इसे कहते हैं।'

सम्राटसहित सबके हृदय गद्गद् हो गये। आलोचकों के हृदय भी बदल गये। उनमें से एक बोला –

'नकली साधु होता तो सहज सम्पन्न इस प्रसङ्ग से अपने को महान् सिद्ध करने का लोभ संवरण नहीं कर पाता, चाहे उससे मूल जिनधर्म की हत्या ही क्यों न हो जाती?'

दूसरा कहने लगा – 'आप सत्य कहते हैं, यश के लोभियों ने ही धर्म की मूल भावना को विकृत कर रखा है।'

तीसरा कहने लगा – 'ऋषिराज ने कुछ भी कहा हो, पर यह मूर्ख जगत उनके नाम से इसे चमत्कार के रूप में ही प्रसारित करेगा।'

बाद की बात तो बहुत दूर, उसी समय एक अन्य भगत ने उठकर ऋषिराज के चरण छुए और ऊँचे स्वर में कहा –

'आप कुछ भी कहो, पर हम तो इसे आपका चमत्कार ही मानेंगे।' ●

(डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल)

15

जागृत विवेक

बात लगभग दो हजार वर्ष पुरानी है। गिरि गिरनार की गहरी गुफा में अन्तर्मग्न आचार्य धरसेन का ध्यान रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब भग्न हुआ तो वे श्रुत परम्परा की सुरक्षा में चिन्तामग्न हो गये। वे सोचने लगे –

'मैं अब बूढ़ा होता जा रहा हूँ, होता क्या जा रहा हूँ, हो ही गया हूँ; पर अभी तक कोई ऐसा पात्र शिष्य दिखायी नहीं दिया, जो गुरु परम्परा से प्राप्त भगवान महावीर की श्रुत परम्परा को मुझसे पूर्णतः ग्रहण कर सके। लगता है बुद्धि की हीनता के कारण अब केवल श्रुत के आधार पर सिद्धान्त की सुरक्षा सम्भव नहीं है, अब उसे लिखितरूप से भी सुरक्षित किया जाना चाहिए; पर समझ में नहीं आता कि यह सब सम्भव कैसे होगा? क्योंकि अब मेरा जीवन ही कितना रहा है? यदि योग्य शिष्य मिल जाए तो उन्हें सब-कुछ सिखाकर लिपिबद्ध करने का आदेश देकर निश्चिन्त हो जाऊँ। पर मेरे सोचने से क्या होता है? होगा तो वही, जो होना है।'

सोचते-सोचते वे कुछ निद्रित हुए तो स्वप्न में देखते हैं कि

जवान, बलिष्ठ, कर्मठ, शुभ्र वृषभों का एक नम्रीभूत धुरन्धर युगल उनकी ओर चला आ रहा है; आ ही नहीं रहा, आ ही गया है और उनके पावन चरणों में नतमस्तक है।

वे एकदम जागृत हो गये। विकल्पों की निरर्थकता को गहराई से जाननेवाले आचार्यश्री को लगा कि यह स्वप्न तो मेरे विकल्प को सार्थक सूचित करता-सा प्रतीत होता है।

ध्यानमग्न आचार्य धरसेन ने जब नासाग्र पलकों को ऊपर उठाया तो दो उत्साही युवा मुनिराजों को चरणों में नमतस्तक पाया। समागत मुनिराज विनम्र शब्दों में कह रहे थे –

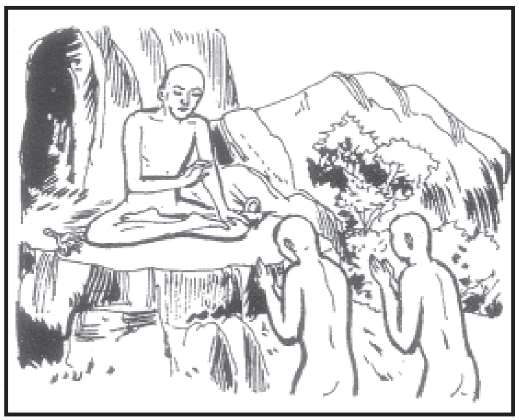

'प्रथम श्रुतस्कन्ध के विशेषज्ञ आचार्यश्री धरसेन के पवित्र चरण कमलों में सिद्धान्तामृत के पिपासु यतियों का बारम्बार वन्दन/नमन स्वीकृत हो।'

अन्तर में मृदु एवं बाहर से कठोर आचार्य धरसेन कहने लगे 'यदि पात्रता हो तो कुछ भी अलभ्य नहीं, पुरुषार्थियों की पिपासा तृप्त होती ही है; पर सब कुछ अन्तर की लगन पर निर्भर करता है।'

आचार्यश्री के सङ्केत को अवधारणा करते हुए वे बोले – 'लगन की कमी और पुरुषार्थ की उपेक्षा तो अन्तेवासियों से कभी होगी नहीं, पर पात्रता का निर्णय तो आचार्यश्री को ही करना होगा।'

'हमें तुमसे यही उत्तर अपेक्षित था।'

'आचार्यश्री की कृपा के लिए अनुचर अनुगृहीत हैं।'

दोनों को दो मन्त्र देते हुए आचार्यश्री बोले 'जाओ, सामने की चोटी पर स्थित गुफा में इन मन्त्रों की आराधना करो। मन्त्र सिद्ध होने पर सर्वाङ्ग सुन्दर देवांगनाओं के दर्शन होंगे।'

दोनों मुनिराज हतप्रभ हो गये। वे सोचने लगे 'देवांगनाओं के दर्शन... हमें देवांगनाओं से क्या लेना-देना? आचार्यश्री ने हमें यह....'

उनके अन्तर के मन्थन से परिचित आचार्यश्री बोले – 'विकल्पों में न उलझो, समय बर्बाद मत करो; जो कहा गया है, उसका पालन करो। जाओ, जाओ....।

रुको, जरा रुको; एक बात ध्यान से सुन लो। यदि कोई शङ्का उत्पन्न हो तो मेरे पास दौड़े मत चले आना। 'तुम्हारा आत्मा ही तुम्हारा वास्तविक गुरु है' — इस महामन्त्र को याद रखना। अब जाओ, देर न करो.....'

साधना के पक्के ऋषिराजों के समक्ष देवांगनाओं की उपस्थिति में देर न लगी, पर वे सर्वाङ्ग सुन्दर न थीं। एक के दाँत सामने को निकल रहे थे तो दूसरी एकाक्षी थी। उन्हें देख ऋषि युगल सोच में पड़ गया। वे सोचने लगे –

''आचार्यश्री ने तो कहा कि सर्वाङ्ग सुन्दर देवाङ्गनाओं के दर्शन होंगे, पर...। कहीं कुछ गड़बड़ अवश्य है। क्यों न चलकर

गुरुदेवश्री से ही जान लें? नहीं, नहीं; उन्होंने आते समय कहा था कि कहीं कुछ शङ्का पड़े तो मेरे पास भागे-भागे मत आना।'तुम्हारा आता ही वास्तविक गुरु है' — इस महामन्त्र को याद रखना; अतः स्वयं ही इसके कारण की खोज करना चाहिए।''

उन्होंने अपने-अपने मन्त्रों का गहराई से निरीक्षण किया तो पाया कि एक मन्त्र में एक अक्षर की कमी है और दूसरे में एक अक्षर अधिक है। वे एक बार फिर सङ्कोच में पड़ गये। उनका अन्तर दुविधा में उलझ गया। वे सोचने लगे –

'क्या इन मन्त्रों को अपने विवेक के आधार पर ठीक कर लिया जाए? वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, अनुभववृद्ध, गुरु परम्परा से प्राप्त समृद्ध श्रुत परम्परा के धनी आचाार्यश्री द्वारा प्रदत्त मन्त्रों में सुधार करने का साहस यौवन से उत्पन्न दुस्साहस तो नहीं होगा?'

गहरे विचार-मन्थन के बाद दोनों ही युवा ऋषि स्वतन्त्ररूप से स्वविवेकानुसार मन्त्रों को शुद्ध कर लेने के निर्णय पर पहुँचे और ध्यानमग्न हो गये।

सफलता विवेक के धनी कर्मठ बुद्धिमानों के चरण चूमती है। सर्वाङ्ग सुन्दर देवांगनाएँ उपस्थित हो कहने लगीं 'हम आपकी क्या सेवा कर सकती हैं?'

'कुछ नहीं; सेवकों का संग्रह और सेवा हमें अभीष्ट नहीं। हमारी आराधना का अभीष्ट तो आचार्यश्री की आज्ञा का पालनमात्र था।'

दोनों युवाऋषि, आचार्यश्री के चरणों में उपस्थित हुए। नमन करते हुए युवा ऋषियों को मङ्गल आशीर्वाद देते हुए आचार्यश्री

बोले – 'पुष्पों के समान दन्तपंक्ति के धनी पुष्पदन्त और अभूतपूर्व बल के धनी भूतबलि को पाकर आचार्य धरसेन कृतकृत्य है।'

अपने नये नाम सुनकर युवा ऋषि चकराये, पर देह में समागत परिवर्तन को लक्ष्य कर सब-कुछ समझ गये। अत्यन्त विनम्र पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यश्री से मन्त्रों के शुद्ध कर लेने के अपराध के लिए क्षमायाचना के साथ जो कुछ घटा था, उसे सुनाने लगे तो गुरु गम्भीर गिरा से आचार्यश्री कहने लगे –

'यह सब सुनाने की आवश्यकता नहीं है, हमारे लिए कुछ भी अगम्य नहीं है। हमें ऐसे ही विनयशील, विवेक के धनी और प्रतिभाशाली अन्तेवासियों की आवश्यकता है; जिन्हें पूर्वजों से प्राप्त श्रुतसम्पत्ति समर्पित की जा सके। विनय के बिना तो विद्या प्राप्त होती ही नहीं है; पर विवेक और प्रतिभा भी अनिवार्य है, इनके बिना भी विद्यार्जन असम्भव है। गुरु के प्रति अडिग आस्था का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर वह आतंक की सीमा तक न पहुँचना चाहिए; अन्यथा वह विवेक को कुण्ठित कर देगी।

समागत समस्याओं का समुचित समाधान तो स्व-विवेक से ही सम्भव है, क्योंकि गुरु की उपलब्धि तो सदा सर्वत्र सम्भव नहीं और परम्पराएँ भी हर समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकती, क्योंकि एक तो समस्याओं के अनुरूप परम्पराओं की उपलब्धि सदा सम्भव नहीं रहती; दूसरे, परिस्थितियाँ भी तो बदलती रहती हैं।

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु यह विनय और मर्यादा को भङ्ग करनेवाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम

पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक, पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

क्षेत्र और काल के प्रभाव से समागत विकृतियों का निराकरण करना जागृत विवेक का ही काम है, पर इसमें सर्वाङ्ग सावधानी अनिवार्य है।

हमारी प्रसन्नता का कारण यह है कि तुमने स्व-विवेक से मन्त्रों में सुधार तो किया, पर विनय और मर्यादा को भङ्ग नहीं किया। मन्त्रों के सुधारने के पहले बहुत कुछ सोचा, पर मेरे प्रभाव से आतंकित न हुए और सुधार सत्य सिद्ध हो जाने पर भी अहङ्कार में नहीं चढ़े। सदाचारी, सन्तुलित-विवेक और विनयशील मर्यादाओं से समृद्ध शिष्यों की ही कामना मुझे थी।

अब मैं, तुम्हें गुरु परम्परा से प्राप्त सम्पूर्ण श्रुत ही नहीं, आचार्यपद भी यथासमय समर्पित कर निश्चिन्त हो जाने के लिए कृतसङ्कल्प हूँ।' ●

(डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल)

सन्तों की अनादि दशा

अन्तर में आत्मा का भान होने के बाद राग-द्वेष और परिग्रह हो, वहाँ तक श्रावकदशा होती है परन्तु मुनिदशा नहीं होती। मुनिदशा तो अन्तर में विशेष लीनता द्वारा राग-द्वेष मिटकर बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलती दशा प्रगट होने पर ही होती है - ऐसी अनादि सन्तों की दशा है। अहो! वह दशा कब आयेगी? ऐसी भगवान को भावना थी।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती पृष्ठ 138)

16

अक्षम्य अपराध

अगाध पाण्डित्य के धनी मुनिराज श्रुतसागर ने जब बलि आदि मन्त्रियों से हुए विवाद का समाचार सुनाया तो आचार्य अकम्पन एकदम गम्भीर हो गये। जगत की प्रवृत्तियों से भली -भाँति परिचित आचार्यश्री के मुखमण्डल पर अनिष्ट की आशङ्का के चिह्न छिपे न रह सके। यद्यपि जबान से उन्होंने कुछ भी नहीं कहा, तथापि उनका मनोगत अव्यक्त नहीं रहा। सहज सरलता के धनी महात्माओं का कुछ भी तो गुप्त नहीं होता।

यद्यपि कोई कुछ बोल नहीं रहा था, तथापि गम्भीर मौन पूरी तरह मुखरित था। शब्दों की भाषा से मौन की भाषा किसी भी रूप में कमजोर नहीं होती, बस उसे समझनेवाले चाहिए।

चेहरे के भावों से ही मनोगत पढ़ लेनेवाले श्रुतज्ञ श्रुतसागर को स्थिति की गम्भीरता समझते देर न लगी। आचार्यश्री के चिन्तित मुखमण्डल ने उन्हें भीतर से मथ डाला था; अतः वे अधिक देर तक चुप न रह सके।

'अपराध क्षमा हो पूज्यपाद! अविवेकी अपराधी के लिए क्या प्रायश्चित्त है? आज्ञा कीजिये।'

'बात प्रायश्चित्त की नहीं, संघ की सुरक्षा की है। ऐसा कौन सा दुष्कर्म है, जो अपमानित मानियों के लिए अकृत्य हो। जब मार्दवधर्म के धनी श्रुतसागर से भी दिगम्बरत्व का अपमान न सहा गया तो फिर मार्दवधर्म का नाम भी न जाननेवालों से क्या अपेक्षा की जा सकती है?

मानभङ्ग की पीड़ा उन्हें चैन न लेने देगी। अपमानित मानी, क्रोधित भुजङ्ग एवं क्षुधातुर मृगराज से भी अधिक दुःसाहसी हो जाता है। आज संघ खतरे में है।'

— कहते-कहते आचार्यश्री और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आचार्य अकम्पन की गुरुतर गम्भीरता देख श्रुतसागर अन्दर से हिल गये। वे जिसे अपनी विजय समझ रहे थे, वह अकम्पन को भी कंपा देनेवाला अक्षम्य अपराध था — इसका अहसास उन्हें गहराई से हो रहा था। वे स्पष्ट अनुभव कर रहे थे कि आचार्यश्री का अन्तर प्रतिदिन की भाँति प्रायश्चित्त निश्चित करने में व्यस्त नहीं, अपितु संघ की सुरक्षा की करुणा में विगलित हो रहा है। प्रत्युत्पन्नमति श्रुतसागर को निर्णय पर पहुँचने में देर न लगी, और वे आचार्यश्री के चरणों में नतमस्तक हो बोले -

'इस नादान के अविवेक का परिणाम संघ नहीं भोगेगा। मैं आज उसी स्थान पर रात्रि बिताऊँगा, जहाँ बलि आदि मन्त्रियों से मेरा विवाद हुआ था — इसके लिए आचार्यश्री की आज्ञा चाहता हूँ।'

'नहीं, यह सम्भव नहीं। परिणाम की दृष्टि से यह अपराध कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर इसमें तुम्हारा धर्मप्रेम ही कारण

रहा है। दिगम्बरत्व के अपमान ने तुम्हें उद्वेलित कर दिया और फिर तुम्हें हमारी उस आज्ञा का पता भी तो नहीं था, जिसमें सभी संघ को मौन रहने का आदेश था, विशेषकर मन्त्रियों से किसी भी प्रकार की चर्चा करने का निषेध था। अतः तुम्हें इतना कठोर प्रायश्चित्त देना मेरा हृदय स्वीकार नहीं करता।'

'पूज्यवर! सवाल प्रायश्चित्त का नहीं, संघ की सुरक्षा का है। आपने ही तो हमें सिखाया है कि अनुशासन-प्रशासन हृदय से नहीं, बुद्धि से चलते हैं।'

'श्रुतसागर के जीवन का मूल्य मैं अच्छी तरह जानता हूँ।'

'कोई भी इतना मूल्यवान नहीं हो सकता कि जिस पर संघ को न्यौछावर किया जा सके। हम आपके इस आप्तवाक्य को कैसे भूल सकते हैं कि अपराधी को दण्ड देते समय न्यायाधीश को उसके गुणों और उपयोगिता पर ध्यान नहीं देना चाहिए।'

'जानते हो? श्रुतसागर लाखों में एक होता है। समाज को उसका मूल्य आँकना चाहिए।'

'साधु, सामाजिक मर्यादाओं से परे होते हैं। साधु को श्रुत के सागर से संयम का सागर होना अधिक आवश्यक है। मैंने वाणी के संयम को तोड़ा है। मौनव्रती साधकों की महानता को वाचाल साधक नहीं पहुँच सकता। मैंने आपकी आज्ञा को भंग किया है। मेरे अपराध अक्षम्य है।'

'पर तुम्हें मेरी आज्ञा का पता ही कहाँ था?'

'पर श्रुत के सागर को इतना विवेक तो होना ही चाहिए था कि राह चलते लोगों से व्यर्थ के विवाद में न उलझे। मेरा यह

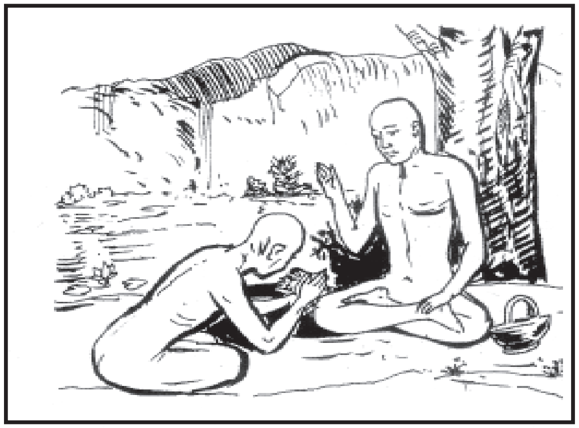

अविवेक तो युग के अन्त तक याद किया ही जाएगा, पर मुझे यह सह्य नहीं है कि इतिहास यह भी कहे कि प्रियतम शिष्य के व्यामोह ने आचार्य अकम्पन को भी अकम्पन न रहने दिया था।

मुझसे जो कुछ भी हुआ सो हुआ, पर मैं अपने गुरु की गुरुता को खण्डित नहीं होने दूँगा।

आचार्यश्री को मेरे इस हठ को पूरा करना ही होगा।'

आचार्य अकम्पन और भी गम्भीर हो गये। उनके गम्भीर मौन को सम्मति का लक्षण जानकर श्रुतसागर उनके चरणों में झुके, नमोऽस्तु किया और मङ्गल आशीर्वाद की मौन याचना करने लगे।

आचार्य अकम्पन ने काँपते हुए हाथ से श्रुतसागर को आशीर्वाद देते हुए कहा – ''मैंने यह सोचा भी न था कि जिसे मैंने एक दिन सम्पूर्ण संघ के समक्ष 'श्रुतसागर' की उपाधि से अलंकृत किया था, उसे किसी दिन इतना कठोर प्रायश्चित्त देना होगा।

प्रिय श्रुतसागर ! तुम ज्ञान की परीक्षा में तो अनेक बार उत्तीर्ण हुए हो, आज तुम्हारे ध्यान की परीक्षा है। जीवन का रहना न

रहना तो क्रमबद्ध के अनुसार ही होगा, पर मैं तुम्हारे आत्मध्यान की स्थिरता की मङ्गल कामना करता हूँ।

दूसरों को तो तुमने अनेक बार जीता है। जाओ, अब एक बार अपने को भी जीतो।''

— कहते-कहते आचार्य अकम्पन और भी अधिक गम्भीर हो गये।

आज्ञा शिरोधार्य कर जाते हुए श्रुतसागर को वे तब तक देखते रहे, जब तक वे दृष्टि से ओझल न हो गये। ●

(डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल)

मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ

मुनिराज की देह छूट जाए तो वहाँ रोनेवाला कोई नहीं है। रोनेवाला होगा कौन? कोई नहीं। मुनिराज तो गुफा के मध्य अन्तर आनन्द में स्थित होते हैं। अहा! देखो, ऐसा मुनिपना!! वह एक वस्तु स्थिति है – ऐसी दशा प्रगट करनी पड़ेगी। प्रभु! इसके बिना मुक्ति नहीं होगी। भाई! अकेले सम्यग्दर्शन और ज्ञान से कहीं मुक्ति नहीं हो जाती। श्रावक को तीन मनोरथ होते हैं – 1. कब परिग्रह का परित्याग करूँ, 2. कब मुनिपना अङ्गीकार करूँ और 3. कब संसार से छूटूँ? मुनिराज, परीषह और उपसर्ग आने पर प्रचुर पुरुषार्थपूर्वक निज ज्ञायक का अवलम्बन लेते हैं। श्रावक को अन्दर से ऐसी पवित्र मुनिदशा प्रगट करने का मनोरथ वर्तता है।

(आत्मधर्म, वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण सम्वत् 2486)

17

मुनिराज ने बनाया – बन्दर से भगवान

एक था बन्दर! वह पूर्वभव में मनुष्य था परन्तु उस समय उसने अपनी आत्मा को न समझकर बहुत छल–कपट किया और मरकर बन्दर हुआ। वह बन्दर एक वन में रहता था। बन्दर भाई वन में रहकर खूब फल–फूल खाता था। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर उछलकूद करता था। ऊँची–ऊँची छलाङ्ग मारकर हूआ–हूआ करके सबको डराता था।

उस वन में कई बार मुनिराज आते, तब वृक्ष के नीचे ध्यान में बैठे हुए मुनिराज को देखकर बन्दर बहुत प्रसन्न होता था और तब वह उस वृक्ष पर ऊधम भी नहीं मचाता था।

एक बार उस वन में एक राजा और रानी आये। राजा का नाम वज्रजंघ था और रानी का नाम श्रीमती। उन

राजा के दो पुत्र जो मुनि हो गए थे, वे मुनि उस वन में आ पहुँचे। राजा–रानी ने उन दोनों मुनिवरों को भक्ति–भाव से आहारदान दिया।

बन्दर वृक्ष के ऊपर बैठा–बैठा यह सब देख रहा था। यह सब देखकर उसे ऐसी भावना जागृत हुई कि यदि मैं मनुष्य होता तो मैं भी इन राजा की तरह मुनियों की सेवा करता, परन्तु अरे रे! मैं तो पशु हूँ.... मेरा ऐसा भाग्य कहाँ.... कि मैं मुनिराज को आहार दे सकूँ।

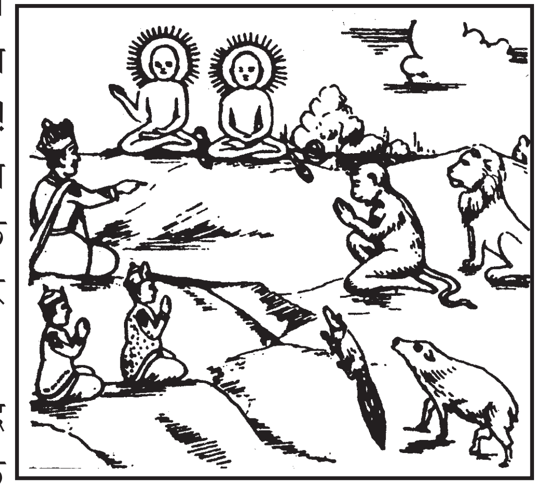

आहारदान के बाद वे मुनि उपदेश देने के लिए बैठे। राजा–रानी उनका उपदेश सुन रहे थे। बन्दर भी वहाँ बैठा–बैठा उपदेश सुन रहा था और दोनों हाथ जोड़कर मुनिराजों की वन्दना कर रहा था।

बन्दर को इस प्रकार व्यवहार करते देख राजा बहुत प्रमुदित हुए और उन्हें बन्दर के प्रति प्रेम उमड़ा। तब राजा ने मुनिराज से पूछा – 'यह बन्दर कौन है ?'

प्रत्युत्तर में मुनिराज ने कहा – 'हे राजन्! यह बन्दर पूर्वभव में नागदत्त नाम का बनिया था, उस समय बहुत कपटभाव करने के कारण यह बन्दर हुआ है परन्तु अब इसे उत्कृष्ट भाव जागृत हुए हैं, इसे धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ है, धर्म–उपदेश सुनने

से यह बन्दर बहुत प्रसन्न हुआ है, उसे पूर्वभव का स्मरण हुआ है और यह संसार से उदास हो गया है।'

मुनिराज के श्रीमुख से बन्दर का वृतान्त सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुए।

फिर मुनिराज ने कहा – 'हे राजन्! जिस प्रकार इस भव में हम तुम्हारे पुत्र थे, उसी प्रकार यह बन्दर भविष्य में तुम्हारा पुत्र होगा। जब तुम ऋषभदेव तीर्थङ्कर होंगे, तब यह जीव तुम्हारा गणधर होगा और फिर मोक्ष प्राप्त करेगा।'

अहा, मुनिराज के मुख से यह बात सुनकर बन्दर भाई तो बहुत ही प्रसन्न हुए और भाव-विभोर होकर मुनिराज के चरणों की वन्दना करके आनन्द से नाचने लगे।

अहो! अपने मोक्ष की बात सुनकर किसे आनन्द नहीं होगा?

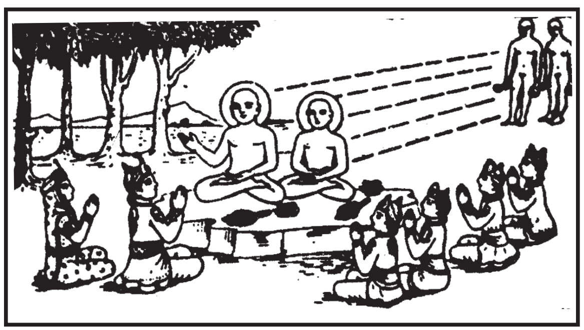

बन्दर भाई के तो आनन्द का पार न रहा, वह प्रतिदिन उत्कृष्ट से उत्कृष्ट भावना भाने लगा... जैसे कोई मनुष्य हो... और मोक्ष प्राप्त करनेवाला हो। अन्त में वह बन्दर मरकर मनुष्य हुआ और भोगभूमि में जन्मा, राजा और रानी के जीव भी वहीं जन्मे थे।

एक बार वे सभी बैठकर धर्मचर्चा कर रहे थे। तभी आकाश से दो मुनिराज वहाँ उतरे और अनेक प्रकार से धर्म का उपदेश

दिया और आत्मा का स्वरूप समझाया। मुनिराज के उपदेश को सुनकर उन सभी जीवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और मोक्षमार्ग में चलने लगे।

फिर वे सभी जीव वहाँ से आयु पूर्ण करके स्वर्ग गये और चार भव बाद राजा का जीव ऋषभदेव तीर्थङ्कर हुआ, उसी समय बन्दर का जीव उनका पुत्र हुआ, उसका नाम गुणसेन था। वह भगवान से दीक्षित होकर ऋषभदेव भगवान के गणधर हुआ। अन्त में उसने केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया।

अहो! जो कभी बन्दर था, आज वह भी आत्मा को समझकर भगवान बन गया। वह जीव धन्य है।

प्रिय बालकों! सच्चे वीतरागी मुनिराज की भक्ति और आत्मा को समझने से, एक बन्दर का जीव भगवान बन गया; अतः हम सब भी अपनी आत्मा को समझें और मुनियों की सेवा करें और मुनिदशा अङ्गीकार करके भगवान बनें – यही भावना है। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

महावन्दनीय मुनिराज की चारित्रदशा

जिसमें शान्ति-शान्ति-शान्ति – ऐसे अकषायभावरूप शान्तरस की रेलमछेल हो जाती है, उस शान्तरस की दशा का नाम चारित्र है।

अहो! कैसी है यह वीतरागी चारित्रदशा! महावन्दनीय दशा है यह!! यह तो परमेष्ठीपद है भाई! मुनिराज नित्य ऐसी चारित्रदशा में वर्तते हैं। *(- प्रवचनरत्नाकर, भाग 10, पृष्ठ 82)*

18

वज्रबाहुकुमार का वैराग्य

श्री मल्लिनाथ भगवान के मोक्षगमन से मुनिसुव्रतनाथ के अन्तराल काल में इस क्षेत्र में अयोध्यानगरी में एक विजय नाम का राजा हुआ। वह महाशूरवीर, प्रतापी, प्रजापालन में प्रवीण, समस्त शत्रुओं को जीतनेवाला था। उसकी पटरानी का नाम हेमचूल था। उसके महागुणवान सुरेन्द्रबन्धु नाम का पुत्र हुआ। उसकी रानी का नाम कीर्तिरमा था, जिससे उन दोनों के दो पुत्र थे, एक वज्रबाहु और दूसरा पुरन्दर। उनकी क्रान्ति सूर्य-चन्द्र के समान थी। वे सार्थक नामवाले दोनों महागुणवान भाई पृथ्वी पर सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत कर रहे थे।

उन्हीं दिनों हस्तिनापुर में राजा इन्द्रवाहन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम चूड़ामणि था। इन दोनों के मनोदया नाम की अतिसुन्दर पुत्री थी। उसका विवाह वज्रबाहुकुमार के साथ हुआ था। विवाहोपरान्त उस कन्या का भाई उदयसुन्दर अपनी बहिन को लेने के लिए अयोध्या आया। वज्रबाहुकुमार को अपनी पत्नी मनोदया के प्रति अतिशय प्रेम था; अत: वह कुमार भी अपनी पत्नी के साथ ही ससुराल चलने हेतु तत्पर हुआ।

उस समय बसन्त ऋतु का समय था। वे सभी मार्ग में बसन्तगिरि पर्वत के समीप पहुँचे। जैसे-जैसे पर्वत समीप आता गया, वैसे-वैसे उसकी परम शोभा देखकर कुमार अत्यन्त हर्षित हुआ। वृक्षों की शोभा देखते-देखते राजकुमार वज्रबाहुकुमार की दृष्टि वहाँ आत्मध्यान में स्थित नग्न दिगम्बर वीतरागी मुनिराज पर पड़ी और वह विचारने लगा — 'अहा! यह स्तम्भ है, पर्वत का शिखर है अथवा मुनिराज हैं!' कायोत्सर्ग धारण करके खड़े मुनिराज के विषय में, वज्रबाहु इस प्रकार विचार करते हुए टकटकी लगाकर मुनिराज की ओर देखने लगा।

मुनि को वृक्ष का ठूँठ जानकर, मृग अपने शरीर को घिसकर अपनी खाज मिटा रहा था। जब वज्रबाहुकुमार नजदीक गया, तब उसको निश्चय हुआ कि यह महा योगीश्वर शरीर का भान भूलकर स्थिररूप से कायोत्सर्ग करके खड़े हैं, सूर्य की किरणें इनके मुख कमल का स्पर्श कर रही है, ये महा दैदीप्यमान भुजाएँ लम्बाकर खड़े हैं, इनका वक्षस्थल सुमेरु तट के समान सुन्दर है। दिग्गजों को बाँधने के स्तम्भ जैसी इनकी जंघाएँ हैं। शरीर तप से क्षीण होने पर भी कान्ति से परिपूर्ण दिखता है, इन्होंने निश्चल सौम्य नेत्र नाक की अणी के ऊपर स्थिर किये हैं, एकाग्र होकर आत्मा का ध्यान करते हैं — ऐसे मुनि को देखकर राजकुमार चिन्तवन करने लगा —

'अहो! धन्य है शान्तिभाव के धारक महामुनि! जो समस्त परिग्रह को छोड़कर, मोक्षाभिलाषी होकर तप कर रहे हैं; इनका निर्वाण निकट है। जिनकी बुद्धि निजकल्याण में लगी है, जिनकी

आत्मा परजीवों को पीड़ा देने से निवृत्त हुई है और मुनिपद की क्रिया से मण्डित है, जिनको शत्रु और मित्र समान है, तृण और कञ्चन समान है, पाषाण और रत्न समान है; जिनका मन मान, मत्सर से रहित है; जिन्होंने पाँचों ही इन्द्रियों को वश में किया है, जिनका वीतरागभाव निश्चल पर्वत के समान है, जिनको देखने से जीवों का कल्याण होता है। वस्तुतः इन्होंने ही मनुष्य देह का फल प्राप्त किया है।

मैं पापी निरन्तर कर्मरूप बन्धन में बँध रहा हूँ। जैसे, चन्दन का वृक्ष सर्पों से घिरा रहता है; उसी प्रकार में असावधानचित्त अचेत के समान हो रहा हूँ। धिक्कार है मुझे! मैं भोगादिरूप महापर्वत के शिखर पर सो रहा हूँ, उससे नीचे ही गिरुँगा। यदि इन योगेन्द्र के जैसी दशा धारण करुँ तो मेरा जीवन सफल हो जाए' — इस प्रकार चिन्तन करते हुए वज्रबाहुकुमार की दृष्टि मुनिराज में इस तरह अतिनिश्चल हो गई, मानो स्तम्भ के साथ बँध गई हो। तब उनके साला उदयकुमार ने उन्हें मुनिराज को निश्चल दृष्टि से देखते देखकर मजाक ही मजाक में हँसकर कहा 'हे बन्धु! मुनिराज की तरफ निश्चल होकर देख रहे हो तो क्या दिगम्बर दीक्षा धारण करनी है?'

वज्रबाहु ने जवाब दिया — 'हे भ्राता! तुमने मेरे हृदय के भाव को प्रकट किया है। अब तुम इसी भाव की बात करो।'

उसने वज्रबाहु को रागी जानकर हँसते-हँसते कहा — 'यदि आप जिनदीक्षा लोगे तो मैं भी इसी पथ का अनुगमन कर लूँगा, परन्तु इस दीक्षा से तो आप अत्यन्त उदास होओगे।'

वज्रबाहु बोला — 'मैंने तो यह ली' — ऐसा कहकर विवाह के आभूषण उतार दिये और हाथी से नीचे उतर गया। उसकी यह चेष्टा देखकर, नवविवाहिता राजकुमारी मनोदया रोने लगी, बड़े मोतियों के समान अश्रुपात करने लगी। उसके आँसू पोंछते हुए उदयसुन्दर, वज्रबाहु से कहने लगा — 'भाई! यह तो मजाक की बात थी, इसे उल्टा क्यों लेते हो?'

अति मधुर वचनों से उसे शान्ति उपजाता वज्रबाहुकुमार कहने लगा — 'हे कल्याणरूप! तुम्हारे समान अन्य उपकारी कौन है? मैं विषयरूपी कुएँ में गिर रहा था, उससे तुमने मुझे बचाया, तुम्हारे जैसा तीन लोक में मेरा कोई मित्र नहीं है। हे उदयसुन्दर! जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा और जो मरा है, वह अवश्य जन्मेगा। यह जन्म और मरण रहट के घड़े के समान है, इसमें संसारी जीव निरन्तर भ्रमता है।

भाई! यह जीवन बिजली के चमकारे के समान, जल के तरङ्ग के समान तथा दुष्ट सर्प की जिव्हा के समान चञ्चल है। इस जगत के जीव दुःख सागर में डूब रहे हैं। इस संसार के भोग स्वप्न के भोग के समान असार हैं, काया पानी के परकोटे जैसी है, इस जगत में स्नेह संध्या समय की लालिमा के समान है और यह यौवन फूल की तरह मुरझानेवाला है। यह तुम्हारी मजाक भी मेरे लिए अमृत के समान कल्याणरूप हुई है।

भाई! क्या हँसते-हँसते औषधि पीने से वह रोग को नहीं हरेगी? अवश्य हरती ही है। तुम मुझे मोक्षमार्ग के उद्यम में सहायक हुए। तुम्हारे जैसा अन्य कोई हितकारक नहीं है। मैं

संसार के आचरण में आसक्त हो गया था, अब मैंने वीतरागभाव पाया है। बन्धु! मैं तो जिनदीक्षा लेता हूँ, तुम्हारी जो इच्छा हो उस प्रकार तुम करो।'

— ऐसा कहकर, सब परिवार से क्षमा माँगकर, तप ही जिनका धर्म है — ऐसे गुणसार मुनि के समीप जाकर, उनके चरणारविन्द में नमस्कार करके, विनयवान होकर वज्रबाहुकुमार कहने लगा —

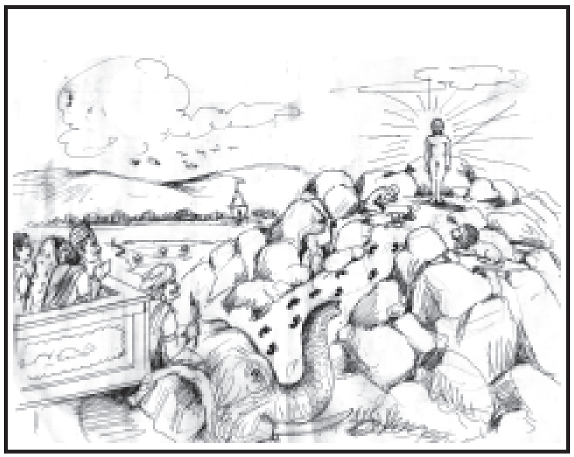

'हे स्वामी! आपकी कृपा से मेरा मन पवित्र हुआ है, अब मैं संसाररूपी कादव से निकलना चाहता हूँ।' वज्रबाहुकुमार के वचन सुनकर गुरु ने आज्ञा दी — 'हे वत्स! यह जिनदीक्षा तुमको भवसागर से पार उतारनेवाली है।'

अहा! कैसे हैं गुरु? जो सातवें में से छठवें गुणस्थान में आये हैं। कुमार ने गुरु की आज्ञा को हृदय में धारण किया, समस्त वस्त्राभूषणों का त्याग करके, केशलोंच किया और पल्यंकासन धारण किया। इस देह को विनश्वर जानकर, शरीर का स्नेह त्यागकर राजपुत्री और राग को तजकर मोक्षदायिनी जिनदीक्षा अङ्गीकार की। साथ ही उदयसुन्दर आदि छब्बीस

राजकुमारों ने भी जिनदीक्षा अङ्गीकार की।

जिनका रूप कामदेव के समान हैं, जिन्होंने राग-द्वेष-मत्सर का त्याग किया है, जिनको वैराग्य का अनुराग उत्पन्न हुआ है — ऐसे उन कुमारों ने परम उत्साह से वीतरागी नग्नमुद्रा धारण की। यह वृतान्त देखकर वज्रबाहु की पत्नी मनोदया ने भी पति और भाई के मोह को तजकर आर्यिका के व्रत धारण किये। सर्व वस्त्राभूषण तजकर एक सफेद साड़ी धारण की और महातप का आचरण किया।

जब राजदरबार में विराजित वज्रबाहु के दादा राजा विनय ने वज्रबाहु के जिनदीक्षा अङ्गीकार करने की घटना सुनी तो वे शोक से पीड़ित होकर कहने लगे — 'अरे! यह आश्चर्य देखो! मेरा पौत्र युवावस्था में विषयों को विष-समान जानकर, उनसे विरक्त होकर मुनि हुआ है और मेरे समान मूर्ख विषयों का लोलुपी वृद्धावस्था में भी भोगों को नहीं छोड़ता। अहो! कुमार ने उन्हें किस प्रकार छोड़ा। अथवा वह महाभाग भोगों को तृणवत् त्यागकर मोक्ष के निमित्त ऐसे शान्तभाव में तल्लीन हुआ है और मैं मन्द भाग्य वृद्धावस्था से पीड़ित होने पर भी इन पापी विषयों के द्वारा लम्बे काल से छला गया हूँ।

अरे! ये विषय देखने में तो सुन्दर हैं, परन्तु इनका फल अत्यन्त कड़वा है। मेरे केश इन्द्रनीलमणिवत् श्याम थे, वे अब बरफ के समान श्वेत हो गये हैं। मेरा शरीर अति देदीप्यमान, शोभायमान, महाबलवान तथा स्वरूपवान था, वह भी वृद्धावस्था में वर्षा से क्षतिग्रस्त चित्र जैसा हो गया है। जो धर्म, युवा अवस्था

में भली प्रकार सिद्ध होता है, वह जरामण्डित प्राणी से सधना विषम है। धिक्कार है पापी, दुराचारी, प्रमादी ऐसे मुझे! मैं चेतन होने पर भी मैंने अचेतनवत् दशा धारण की। यह झूठा घर, झूठी माया, झूठी काया, झूठे बाँधव, झूठा परिवार; इनके स्नेह से भवसागर में परिभ्रमण किया।'

इस प्रकार वैराग्यभावपूर्वक विचार करके, समस्त परिवार से क्षमा माँगकर, छोटे पौत्र पुरन्दर को राज्य देकर, अपने पुत्र सुरेन्द्रबन्धु सहित राजा विजय ने वृद्धावस्था में निर्वाणघोष स्वामी के समीप जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली।

धन्य है वज्रबाहुकुमार के वैराग्य को!! ●

(बोधि-समाधि-निधान से)

मुनिदशा की अनादिकालीन सत्य वस्तुस्थिति

मुनिदशा होने पर सहज निर्ग्रन्थ दिगम्बरदशा हो जाती है। मुनि की दशा तीनों काल नग्न दिगम्बर ही होती है। यह कोई पक्ष अथवा बाड़ा नहीं, किन्तु अनादि सत्य वस्तुस्थिति है। कोई कहे कि 'वस्त्र होवे तो क्या आपत्ति है क्योंकि वस्त्र तो परवस्तु है, वह कहाँ आत्मा को रोकता है?'

इसका समाधान यह है कि वस्त्र तो परवस्तु है और वह आत्मा को नहीं रोकता, यह बात तो सत्य है परन्तु वस्त्र के ग्रहण की बुद्धि ही मुनिपने को रोकनेवाली है। मुनियों को अन्तर की रमणता करते-करते इतनी उदासीनदशा सहज हो गयी है कि उन्हें वस्त्र के ग्रहण का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता।

(- पञ्च कल्याणक प्रवचन, गुजराती, पृष्ठ 144)

19

गुरुदत्त मुनि

हस्तिनापुर का राजा विजयदत्त धर्मात्मा था। उसकी रानी का नाम विजया था। गुरुदत्त उनका पुत्र था। उसकी प्रवृत्ति बालवय से ही सरल और गम्भीर थी। उसकी सुन्दरता भी बहुत थी। अपने पिता विजयदत्त के मुनिदीक्षा लेने के पश्चात् राज्य का भार पुत्र गुरुदत्त पर आ गया था। उसके द्वारा जिम्मेदारीपूर्वक राज्य की सम्भाल करने से प्रजा प्रसन्न थी। प्रजा को दुःख होने पर गुरुदत्त चिन्तापूर्वक मिटाता था।

समीप ही द्रोणीपर्वत था। वहाँ एक विकराल सिंह रहता था। उसके भय से सारा नगर त्रास पाता था और सदा ही भय बना रहता था कि न जाने कब किस समय सिंह हमला कर दे। इस कारण उससे बचने के लिये समस्त नगर के लोगों ने गुरुदत्त से प्रार्थना की कि महाराज! पर्वत पर रहनेवाले हिंसक सिंह से हम सदा भयभीत रहते हैं, अतः आप कोई ऐसा प्रयत्न करो कि हमारा भय दूर हो जाए।

ग्राम के लोगों को आश्वासन देकर राजा गुरुदत्त, वीर योद्धाओं को लेकर पर्वत पर गया और सिंह को चारों तरफ से घेर लिया

परन्तु सिंह वहाँ से भागकर एक अन्धेरी गुफा में जाकर छिप गया। गुरुदत्त ने यह मौका देखकर गुफा के चारों तरफ लकड़ियों का ढेर करके उसमें आग लगा दी। सिंह इस गुफा में से निकल नहीं सका और वहीं जलकर मर गया। मृत्यु के समय सिंह को बहुत कष्ट हुआ। मृत्यु के पश्चात् सिंह के जीव ने चन्द्रपुरी नगर में ब्राह्मण के घर जन्म लिया, उसका नाम कपिल था।

जिनेन्द्रभक्त राजा गुरुदत्त संसार से विरक्त होकर जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए। वे अपनी वैराग्य दशा प्रगट करते-करते अनेक देशों में विहार करते हुए एक बार चन्द्रपुरी में आये। एक दिन की बात है कि गुरुदत्त मुनि, कपिल के खेतों में कायोत्सर्ग करके खड़े थे। उस समय कपिल खेत में आया, वह अपनी पत्नी से कहकर आया था कि मैं खेत पर जा रहा हूँ; अतः तुम भोजन लेकर खेत पर आ जाना, परन्तु कपिल ने खेत में एक मुनि को ध्यान करते देखकर खेत को जोतना उचित नहीं समझा; इसलिए वह दूसरे खेत पर चला गया। जाते समय मुनि से कहता गया कि थोड़ी देर बाद मेरी पत्नी भोजन लेकर आयेगी; आप

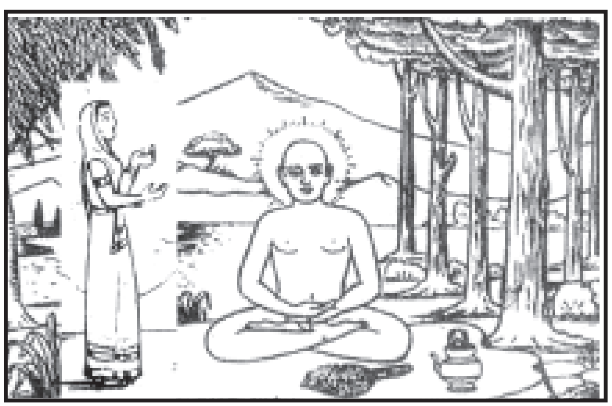

उससे कहना कि कपिल दूसरे खेत में गया है।

सत्य ही है कि मुनियों के मार्ग को नहीं समझनेवाले

अनर्थ कर बैठते हैं। तत्पश्चात् कपिल की पत्नी भोजन लेकर खेत में आई तो वहाँ अपने पति को नहीं देखा; अतः मुनि से पूछा कि महाराज! मेरे पतिदेव यहाँ से कहाँ गये हैं परन्तु मुनि ने कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर नहीं मिलने से वह स्त्री वापस घर चली गयी।

समय अधिक हो जाने पर कपिल ब्राह्मण भूख से बहुत व्याकुल हो रहा था, इसलिए उसे पत्नी पर क्रोध आ गया। उसने घर आकर गुस्से में पत्नी को फटकार लगाई कि मैं तो भूख से मर रहा था और तेरा भोजन लाने का ठिकाना ही नहीं है। तब ब्राह्मणी घबराकर कहने लगी कि मेरा अपराध क्या है? मैंने तो उस साधु से पूछा था परन्तु उनने कोई उत्तर नहीं दिया, इसलिए मैं घर चली आई।

यह बात सुनकर कपिल ब्राह्मण का क्रोध बहुत बढ़ गया, उसने दाँत पीसकर कहा कि क्या उसने तुझे जवाब नहीं दिया? ठीक है, मैं अभी खेत पर जाकर उसकी खबर लेता हूँ।

कपिल पूर्व जन्म में सिंह था और उसकी मृत्यु गुरुदत्त द्वारा उसी अवस्था में हुई थी। अब, शत्रुता को जागृत करने के लिए यह घटना सहायक बनी।

कपिल क्रोधित होकर मुनि के पास आया और उसने गुरुदत्तमुनि को रुई में लपेटकर आग लगा दी। मुनि पर कठोर उपसर्ग हुआ परन्तु मुनि ने उसे धीरता से सहन किया। अन्त में शुक्लध्यान के प्रभाव से समस्त घातिकर्मों का अभाव करके मुनिराज गुरुदत्त ने केवलज्ञान प्रगट किया। उसी समय

देवों ने आकर उनकी पूजा करके केवलज्ञान का महान उत्सव मनाया।

यह सब घटना देखकर कपिल को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उसने विचार किया कि मैंने साधु को अत्यन्त निर्दयता से जलाया है। इस प्रकार उसको आत्मग्लानिपूर्वक बहुत पश्चाताप हुआ और भक्तिपूर्वक भगवान के पास अपने अपराध की क्षमा माँगी। भगवान का उपदेश सुनकर उस पर बहुत प्रभाव पड़ा और अपने पापों का प्रायश्चित करने के लिए कपिल ब्राह्मण ने मुनिदीक्षा अङ्गीकार कर ली।

यह कहानी जहाँ हमें मुनिराज गुरुदत्त के उदाहरण से समताभाव की सीख देती है, वहीं कपिल ब्राह्मण की परिणति में परिवर्तन की घटना पर्याय की परिवर्तनशीलता का भी बोध कराती है। हमें ज्ञात होता है कि क्षण भर पहले का पापी, क्षणभर बाद धर्मात्मा बन सकता है।

इस प्रकार पर्याय की परिणमनशीलता में व्यामोहित न होकर, विषम परिस्थितियों में भी गुरुदत्त मुनिराज की तरह मेरु-सम अचल स्वभाव परिणति का बोध प्राप्त करना ही इस कथा का तात्पर्य है।

देखो! सत्पुरुषों का सङ्ग सदा सुखदायी होता है। एक महाक्रोधी ब्राह्मण क्षणभर में सब त्याग करके योगी हो गया। इसलिए भव्य जीवों को सदा अपने को सत्सङ्ग से पवित्र करते रहना चाहिए। ●

(बोधि-समाधि-निधान से)

20

नाटक में एक जीव के दो स्वाङ्ग

एक था राजकुमार...... उसका एक मित्र कलाकार बहुरूपी था। विविध स्वाङ्ग धारण करने में वह बहुत कुशल था। उसका नाम था ब्रह्मगुलाल।

एक बार राजकुमार के सामने विवाद उपस्थित हुआ, क्योंकि वह राजकुमार 'ब्रह्मगुलाल' कलाकार की बहुत प्रशंसा करता था परन्तु उसकी मित्र मण्डली को यह बात अच्छी नहीं लगती थी। मित्र कहते कि तुम उसकी अनुचित प्रशंसा करते हो, उसकी कला साधारण श्रेणी की है, उसमें भाव परिवर्तन की स्वाभाविक शक्ति नहीं है, जो कला के विद्वानों को सन्तुष्ट कर सके।

राजकुमार उसकी कला को सर्वश्रेष्ठ साबित करना चाहता था, उसे उसकी कला में एक विशेष आकर्षण दिखाई देता था परन्तु उसके गुणद्रोही दुर्जन मित्रों को एक जैन कलाकार की प्रशंसा असहनीय थी; अत: वे उससे बहुत द्वेष रखते थे।

एक दिन की बात है, जब राजकुमार का एक सगा-सम्बन्धी आया, राजकुमार ने मुक्तकण्ठ से कलाविद् ब्रह्मगुलाल के भाव

परिवर्तन की प्रशंसा की, तब उसकी प्रशंसा सुनकर राजकुमार के अन्य मित्र उत्तेजित हो गये और एक मित्र ने कहा –

'इस प्रकार का स्वाङ्ग रच लेना यह तो एक साधारण का कार्य है। हाँ, यदि ब्रह्मगुलाल सचमुच में कलाकार है तो हम उसकी कला की परीक्षा की माँग करते हैं, जहाँ वह अपनी उच्च–कोटि की कला का परिचय दे।'

राजकुमार को तो ब्रह्मगुलाल की स्वाभाविक कला प्रदर्शन की शक्ति का पूरा विश्वास था, उसने तुरन्त कहा – 'मित्रों! तुम खुशी से उसकी परीक्षा कर सकते हो। तुम जो भी स्वाङ्ग उसे करने को कहोगे, वह तैयार है।'

मित्रों ने कहा – 'हम आज उसे सिंह के रूप में देखना चाहते हैं।'

'आप उसे जिस रूप में देखना चाहते हो, उस रूप में देख सकते हो।' दृढ़तापूर्वक राजकुमार ने स्वीकार किया।

'परन्तु' – दूसरे मित्र ने कहा – 'मात्र भेष धारण कर लेना तो साधारण बात है परन्तु इसमें सचमुच सिंह के समान पराक्रम और तेज होना चाहिए।'

'उसके लिए वह सब शक्य है।' राजकुमार ने जवाब दिया।

मित्र मण्डली अपने हृदय की भावना पूरी करना चाहती थी, जिसका उन्हें आज अवसर भी मिल गया था, उन्होंने कहा –

'अच्छा, तो आज हम सिंह का पराक्रम देखना चाहते हैं।'

ठीक है, आपकी इच्छा पूर्ण होगी। ऐसा कहकर राजकुमार ने उन सबको विश्वास दिलाया। (अरे रे! राजकुमार मित्र–मण्डली के प्रपञ्च में फँस गया।)

***

नाट्यकला विशारद ब्रह्मगुलाल पद्मावती पोरवाल जाति का एक जैन युवक था, उसका जन्म विक्रम संवत् १६०० के लगभग टापा नगर में हुआ था, टापानगर की राजधानी सुदेश थी। ब्रह्मगुलाल को बाल्यकाल से ही नाट्यकला से प्रेम था और अब जवानी में उसकी नाट्यकला का पूर्ण विकास हो चुका था।

राजकुमार की सभा में वह बारम्बार अपनी कला का प्रदर्शन करता था, भाव–परिवर्तन की अद्भुत कला पर राजकुमार और उसके मित्र मुग्ध थे। दर्शकों का हृदय अपनी ओर आकर्षित करने की उसमें विचित्र शक्ति थी, जो स्वाङ्ग वह धारण करता, उसमें स्वाभाविकता का वास्तविक दर्शन होता था – ऐसा होने पर भी राजकुमार के कितने ही मित्र उससे प्रसन्न न थे, वे किसी भी प्रकार से उसे अपमानित करने का अवसर देख रहे थे। अब जब उन्हें यह अवसर मिल ही गया तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उपरोक्त प्रकार से परीक्षा लेना निश्चित किया।

***

राजकुमार ने ब्रह्मगुलाल को बुलाकर कहा – 'कलाविद् बन्धु! आज तुम्हें अपनी कला को अच्छी तरह से दिखाना पड़ेगा, मेरी मित्र–मण्डली आज तुम्हारी परीक्षा करना चाहती है।'

ब्रह्मगुलाल यह रहस्यभरी बात सुनकर विचार में पड़ गये.... वे इस बात का रहस्य खोलना चाहते थे.... अत: उन्होंने कहा –

'कुमार! क्या अभी तक तुम्हारी मित्र-मण्डली हमारी परीक्षा नहीं कर पायी? हमारी कला का प्रदर्शन तो यहाँ बहुत समय से हो रहा है। फिर आज यह नया विचार कैसा?'

'कलाविद्! आज तुम्हें अपनी कला की परीक्षा देनी ही होगी, क्योंकि तुम्हारी प्रत्येक कला का प्रदर्शन महत्वशाली और आकर्षक होता है। आज तुम्हें पहले से अधिक अच्छा स्वाङ्ग करना पड़ेगा।' - राजकुमार ने यह माँग की।

ब्रह्मगुलाल ने कहा - 'आखिर यह तो बताओ.... कि मेरी यह परीक्षा क्यों करवाना चाहते हैं।'

'तुम सिंह का पराक्रम जानते हो, आज तुम्हें सिंह का पराक्रम बताना ही होगा।' - राजकुमार ने बात स्पष्ट की।

'यह सब कुछ हो सकता है, परन्तु...' ब्रह्मगुलाल ने कहा - 'तुम्हें भी कुछ करना होगा।'

राजकुमार ने कहा - 'मैं सब करूँगा, बताओ! ऐसा कौनसा कठिन कार्य है जो मेरे लिये असम्भव हो?'

'आपको महाराज से एक प्राणी के वध की मंजूरी लाना होगी, उसके बाद आप अपनी रङ्गशाला में सिंह का पराक्रम देख सकेंगे।' - ब्रह्मगुलाल ने गम्भीरता से कहा

'ठीक है, मैं तुम्हारी व्यवस्था करूँगा।' - राजकुमार ने स्वीकृति दी। (रे भवितव्य!)

***

राजकुमार नाट्यशाला में आज विशेष शृङ्गार करके आया था। राजकुमार स्वयं एक सुन्दर सिंहासन पर बैठा था, उसके

आस-पास मित्र-मण्डली बैठी थी। नागरिक भी आज सभा मण्डप में सिंह का वास्तविक स्वाङ्ग देखने के लिये उत्सुकता -पूर्वक आ रहे थे। थोड़ी देर में सभा-मण्डप खचाखच भर गया। राजकुमार के मित्रों की सूचना से एक बकरा मँगाकर सिंहासन के बाजू में ही बाँध दिया गया था। उपस्थित जनता, सिंह के असली स्वाङ्ग को देखने के लिये आतुरता से प्रतीक्षा कर रही थी।

अचानक एक भयानक सिंह ने छलाँग मारकर सभा-मण्डप में प्रवेश किया। लोग उसे आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे। वैसा ही रूप, वैसा ही भाव, वैसा ही तेज, वैसा ही पराक्रम था। सिंह का भयानक रूप देखकर सभासद थोड़ी देर को स्तम्भित ही रह गये। बालक इस सिंह का विकरालरूप देख कर भयभीत होकर भागने लगे, जबकि यह तो सिंह का सारा बनावटी स्वाङ्ग था तो भी सिंह की सारी क्रूर चेष्टाएँ उसमें समाहित थी। सिंह आकर राजकुमार के सामने तीव्र गर्जना करके थोड़ी देर खड़ा रहा।

सिंह की तीव्र गर्जना और भयानकरूप देखकर राजकुमार डरा नहीं, बल्कि उसने सिंह को वैसा का वैसा खड़ा देखकर उग्र स्वर में कहा -

'अरे! तू कैसा सिंह है? सामने बकरा बँधा है और तू इस प्रकार गधे के समान चेष्टारहित खड़ा है। क्या यही सिंह का पराक्रम और शक्ति है? नहीं, सचमुच तू सिंह नहीं, यदि तू सिंह होता तो क्या यह बकरा तुम्हारे सामने इस प्रकार जीवित रह सकता था?'

राजकुमार के शब्दों को सुनते ही... सिंह की आँखें लाल हो गयी... और अपने पञ्जों को उठाकर वह कूदा....।

राजकुमार के मित्र इस दृश्य को देखकर प्रसन्न हुए। वे यह विचार करने लगे –

'यह ब्रह्मगुलाल अहिंसा पालक है, वह किसी प्रकार की हिंसा नहीं कर सकता, अत: सिंह का स्वाङ्ग निभाने में जरूर निष्फल होगा और हमारी विजय होगी। यदि वह हिंसा का कार्य करेगा तो जैन समाज से तिरष्कृत होगा। अपने धर्म के विरुद्ध जाकर वह इस प्रदर्शन को जीव-हिंसा से नहीं रङ्ग सकता।'

अभी वे इस प्रकार का विचार कर ही रहे थे कि वहाँ तो... सिंह अपने पञ्जे उठाकर एक छलांग में राजकुमार के सिंहासन के पास पहुँच गया... और... एक झटके में उसने अपने पञ्जों से राजकुमार को सिंहासन से नीचे पछाड़ दिया। चारों ओर से करुण चित्कार के कारण नाटक का रङ्ग मण्डप गूँज उठा। दर्शकों का हृदय किसी भयानक घटना की आशङ्का से काँप उठा... और... दूसरे ही क्षण दर्शकों ने देखा कि राजकुमार का मरा शरीर सिंहासन के नीचे पड़ा है। सिंह के तीव्र पञ्जों का आघात वह सहन नहीं कर सका और उसकी तत्काल मृत्यु हो गयी।

एक क्षण में नाटक मण्डप का दृश्य विषाद के रूप में बदल गया... आनन्द के स्थान पर शोक छा गया। सिंह का काम समाप्त हो गया था। सिंह का स्वाङ्ग पूरा करके ब्रह्मगुलाल अब अपने वास्तविकरूप में आ गया था।

इस प्रकार विषाद की घनघोर छाया के साथ नाट्य-विशारद का कार्य पूरा हुआ।

***

महाराज ने राजकुमार की मृत्यु का समाचार सुना... परन्तु वे निरुपाय थे, क्योंकि ब्रह्मगुलाल को सिंह के स्वाङ्ग के लिये एक प्राणी के वध की मंजूरी उन्होंने स्वयं दी थी। शोक के अलावा अब उनके पास कोई दूसरा उपाय नहीं था। हाँ, एक उपाय था और वह था वैराग्य का उपाय।

राजकुमार की अपमृत्यु से राजा का हृदय अत्यन्त शोकमग्न था, प्रयत्न करने पर भी अपने दु:ख को भुला नहीं पा रहे थे। ब्रह्मगुलाल के इस कृत्य से राजा का हृदय एक भयङ्कर विद्वेष से भर गया था और वे किसी भी प्रकार उससे बदला लेना चाहते थे। बदला लेने के लिए उनका हृदय उत्तेजित हो रहा था और वह अवसर की राह देखने लगे, तभी एकाएक उनके मन में एक विचार आया।

एक दिन राजा ने ब्रह्मगुलाल को अपने पास बुलाकर कहा –

'कलाविद्! सिंह का स्वाङ्ग तो तुमने बहुत सफलतापूर्वक किया... तुम्हारे रौद्ररूप का दर्शन तो हो चुका। अब मैं तुम्हारे शान्तरूप का दर्शन करना चाहता हूँ... तुम दिगम्बर साधु का स्वाङ्ग धारण करके मुझे वैराग्य का उपदेश दो... जिससे पुत्र शोक से सन्तापित मेरे हृदय में शान्ति हो।'

महाराज की यह आज्ञा रहस्यपूर्ण थी। उसे सुनकर ब्रह्मगुलाल विचार में पड़ गया... परन्तु दूसरे ही क्षण निर्णय करके उसने कहा –

'महाराज! आपकी आज्ञा मान्य है परन्तु आपको थोड़ा समय देना होगा।'

अपने मन की इच्छा पूरी होती देख राजा प्रसन्न हुआ और उसने कहा –

'ठीक है, जितना समय तुम्हें चाहिये उतना ले सकते हो परन्तु साधु का अच्छे से अच्छा, ऊँचे से ऊँचा उपदेश देकर तुम्हें मेरे शोक-संतप्त हृदय को शान्त करना होगा।'

'अवश्य' – ऐसा कहकर ब्रह्मगुलाल अपने घर चला गया।

***

महाराज की आज्ञानुसार साधुपने का स्वाङ्ग धारण करने के लिये ब्रह्मगुलाल ने निश्चय कर लिया था परन्तु कार्य कठिन था। इसमें पूरे जीवन की बाजी लगानी थी क्योंकि वह जानता था कि जैन साधुओं का पवित्र स्वाङ्ग, मात्र देखने के लिये नहीं होता। एक बार जिसने धारण किया, उसके बाद फिर गृहस्था नहीं होता। साधु का स्वाङ्ग धारण करना कोई मजाक नहीं है, उसके अन्दर एक महान आत्मभावना समाहित होती है।

ऐसे साधु का स्वाङ्ग धारण करने के लिये पहले उसने दृढ़ होकर वैराग्य भावनाओं का चिन्तन किया और अपने हृदय को संसार से विरक्त बना लिया। उसका पूरा समय आत्म-चिन्तन और आत्मभावनाओं में ही बीतने लगा। वे विरक्ति को वास्तविकरूप देना चाहते थे। स्व-पर के भेद-विज्ञानरूप तत्वाभ्याससहित उन्होंने संसार विरक्ति के जोरदार अभ्यास में प्रवीणता प्राप्त कर ली। उनके अन्तर में उत्साह तो था ही, **अहो! साधुदशा का सुन्दर अवसर आया है। संसार के पाप स्वाङ्ग तो बहुत धारण किये, अब धर्म का सच्चा स्वाङ्ग करने का धन्य अवसर आया है।**

ऐसी धर्मभावनापूर्वक थोड़े समय में उन्होंने अपने अन्तर में पूर्ण विरक्ति जागृत कर ली और अब वे गृहजाल का बन्धन तोड़ने में समर्थ हो गये थे। सम्यक्त्व और आत्मज्ञान के प्रकाश से उनकी आत्मा जगमगा रही थी, वासना की बेड़ियाँ टूट गयी थी। हृदय शान्तरस से भर गया था। उनके जीवन में अचानक आये परिवर्तन को देखकर परिवारजन आश्चर्यचकित रह गये थे।

वैराग्य से भरपूर साधु स्वाङ्ग में प्रवेश करने की पूर्ण तैयारी के बाद ब्रह्मगुलाल ने अपने माता-पिता और पत्नी के पास जाकर सारा रहस्य प्रगट किया और साधु होने के लिये मंजूरी माँगी।

वे सभी तो बहुत मोहासक्त थे... ब्रह्मगुलाल के वैराग्य की बात सुनकर उनका मोह उमड़ पड़ा और उन्होंने एक बार तो ब्रह्मगुलाल को पुनः मोहसागर में ले जाने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्होंने तो अपने आत्मा को मोहसागर से बहुत ऊँचा उठा लिया था, अब मोह की लहरें उन्हें स्पर्श नहीं कर सकती थी। अपने पवित्र उपदेश के द्वारा उन्होंने अपने माता-पिता और पत्नी के हृदय के मोहजाल को तोड़ दिया और उज्ज्वल भावनाओंसहित ब्रह्मगुलाल वन की ओर चले गये।

जंगल में जाकर उन्होंने अपने सभी वस्त्र उतार दिये और दिगम्बर होकर एक स्वच्छ शिला के ऊपर पद्मासन होकर बैठ गये, फिर उन्होंने अपने हृदय की उत्कृष्ट भावनापूर्वक श्री पञ्च

परमेष्ठी भगवन्तों को नमस्कार करके, स्वयं साधु दीक्षा ग्रहण की... और आत्मध्यान में लीन हो गये।

संसार नाटक के अनेक स्वाङ्गों को धारण करनेवाला कलाविद्, एक क्षण में आत्मकला का उपासक बन गया... अब उनका हृदय आत्मज्ञान और शान्तरस से भरपूर था, उन्हें न कोई इच्छा थी और न ही कोई कामना। संसार नाटक का स्वाङ्ग पूरा करके अब उन्होंने मुक्तिसाधक मुनिदशा का स्वाङ्ग शुरु किया था। रौद्ररूप से भाव-परिवर्तन करके आत्मा को शान्तरसरूप किया था। धन्य है! इनकी भाव-परिवर्तन की कला!!

***

प्रभात का सुन्दर समय है। महाराज अपने सिंहासन पर विराजमान है... सभासद भी बैठे हैं... इसी समय जिन्होंने प्राणी मात्र के ऊपर समभाव धारण किया हे और जो शान्तरस में मग्न हैं – ऐसे साधु ब्रह्मगुलालजी राजभवन में आते दिखे। राजा ने दूर से ही साधु के पवित्र वेष को देखा, तुरन्त ही उठकर साधु को आमन्त्रित किया। उन्हें उच्च आसन पर विराजमान किया और

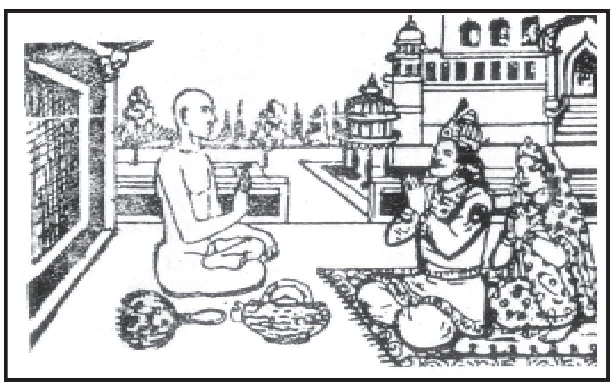

धर्मोपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त की। मुनिराज ब्रह्मगुलालजी ने पवित्र आत्मतत्व का विवेचन किया।

'राजन! आत्मतत्व में अनन्त शक्तियाँ हैं, क्षणमात्र में अपने भावों का परिवर्तन करके पामर से परमात्मा बन जाने की तुममें ताकत है, इसलिए शोकभाव छोड़कर शान्तभाव प्रगट करो।'

मुनिराज ब्रह्मगुलालजी का ऐसा दिव्य उपदेश सुनकर महाराज के हृदय का शोक नष्ट हो गया, उनके मन का पाप धुल गया, अन्तर में से द्वेष की ज्वाला शान्त हो गयी। ब्रह्मगुलालजी के पवित्र व्यक्तित्व पर आज पहले ही दिन महाराज को अनन्य श्रद्धा हो गयी। हर्षित हृदय से उन्होंने कहा –

'ब्रह्मगुलालजी! आपने महात्मा के कार्य को जैसा का तैसा पालन किया है, साधु-स्वाङ्ग धारण करके आपने हमारे मन से शोक मिटा दिया है। मैं आपके इस साधु-स्वाङ्ग को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए आप इच्छित वरदान माँगो; अब जो आप माँगोगे, वह मैं देने के लिये तैयार हूँ।'

ब्रह्मगुलालजी को साधु-स्वाङ्ग से भ्रष्ट करने के लिये प्रलोभन के रूप में यह एक जाल फेंका गया था, परन्तु वे इसमें नहीं फंसे, वे बोले –

'महाराज! आप एक दिगम्बर साधु के सामने ऐसे अनुचित शब्दों का प्रयोग क्यों कर रहे हैं? राजन्! क्या आप नहीं जानते कि जैन साधुओं को राज्यवैभव की इच्छा नहीं होती, उन्हें अपने आत्मवैभव के साम्राज्य के सामने संसार के वैभव की लेशमात्र इच्छा नहीं है।

'हे नरेश्वर! ममता के सभी बन्धनों को मैंने तोड़ दिया है, अब मैं निर्ग्रन्थ जैन साधु हूँ और मुझे आपसे किसी भी वस्तु की

अभिलाषा नहीं है; मैं तो मुक्तिपथ का पथिक हूँ, पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा ध्येय है, आत्मध्यान मेरी सम्पत्ति है, अपनी सम्पत्ति से मैं सन्तुष्ट हूँ; इसके अलावा मैं और कुछ नहीं चाहता।'

ब्रह्मगुलालजी की एक बार और परीक्षा करने के लिये राजा ने कहा –

'परन्तु आपने यह साधुवेष तो मात्र स्वाङ्ग के लिये ही ग्रहण किया है, और यह तो मेरी इच्छा पूरी करने के लिये ही किया था, जिससे उसमें कोई वास्तविकता नहीं होनी चाहिए। तुम्हारे स्वाङ्ग का कार्य पूरा हुआ, अब तुम्हें यह स्वाङ्ग बदल लेना चाहिए और इच्छित वैभव प्राप्त करके अपना जीवन सुखमय व्यतीत करना चाहिए।'

जिनके हृदय में समतारस का सिन्धु उछल रहा हो – ऐसे ब्रह्मगुलालजी ने हृदय की दृढ़ता व्यक्त करते हुए कहा –

'राजन्! साधु का वेष स्वाङ्ग के लिए नहीं लिया जाता, मुनि दीक्षा, मात्र स्वाङ्ग करने जैसी वस्तु नहीं है, इसमें तो जीवन पर्यन्त के ज्ञान और वैराग्य की साधना होती है। मैं सांसारिक वैभव का त्याग कर चुका हूँ, जिससे वे मेरे लिए उच्छिष्ट वस्तु के समान हैं; विवेकीजन उच्छिष्ट वस्तु का पुनः ग्रहण नहीं करते। मैं, अब मात्र स्वाङ्गधारी साधु नहीं, मेरी अन्तरात्मा वास्तविक साधु होकर आत्मसाधना में रम रही है, जिसमें अब राज्य वैभव के प्रलोभन के लिए कोई स्थान नहीं है। मेरी वासना मर गई है और अब मैं साधु पद के कर्तव्य में स्थिर हूँ। अब मैं अपने आत्मकल्याण के स्वतन्त्र मार्ग पर ही विचरण करूँगा और

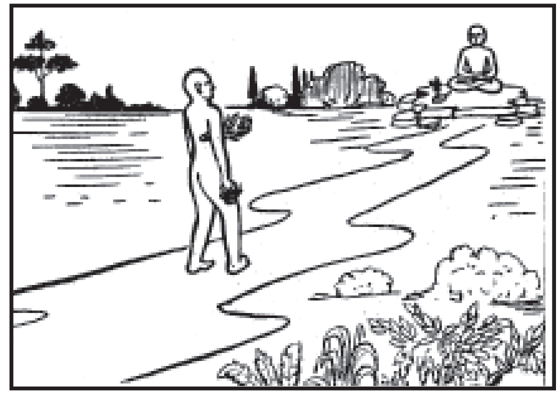

जगत् को दिव्य आत्मधर्म का सन्देश सुनाऊँगा। आप मेरे मन को विचलित करने का निष्फल प्रयत्न न करें।'

मुनिराज ब्रह्मगुलालजी की वैराग्य से ओतप्रोत वाणी सुनकर राजा आश्चर्यचकित होकर उन्हें देखता रहा... तभी ब्रह्मगुलाल मुनिराज खड़े हुए... और अपनी पीछी-कमण्डल लेकर मन्द-मन्द गति से जंगल की ओर चले गये। ● *(बोधि-समाधि निधान से)*

मोक्ष के अत्यन्त समीप हैं मुनिराज

देखो, चौथे और पाँचवे गुणस्थान में अभी कर्मचेतना और कर्मफल चेतना होती है, स्वामीपने नहीं, परन्तु वेदनरूप से होती है। मुनि के कर्मचेतना और कर्मफलचेतना नहीं, उन्हें ज्ञानचेतना है। पुण्य-पाप के भाव को करना, वह कर्मचेतना और हर्ष-शोक को वेदना, वह कर्मफलचेतना है, वह मुनि को नहीं है। इनसे भिन्न निज ज्ञानानन्दस्वरूप के परिणमनरूप ज्ञानचेतना का अनुभव उन्हें होता है। राग का करना और राग का वेदना मुनि को छूट गया है, उन्हें तो अकेले आनन्द का वेदन है। अहा! ऐसे चारित्रवन्त मुनि, मोक्ष के अत्यन्त समीप बर्तते हैं। *(– प्रवचनरत्नाकर, भाग 10, पृष्ठ 63)*

21

मुमुक्षु जीव की भावना का दिग्दर्शक एक निबन्ध

श्री मुनि-भगवन्त के साथ... एक दिन

भगवान महावीर के 2500 वें निर्वाण महोत्सव *की स्मृति में* ***आत्मधर्म*** *के* ***बाल सदस्यों*** *के लिए एक* ***निबन्ध प्रतियोगिता*** *का आयोजन किया गया था। निबन्ध का विषय था -* ***श्री मुनिराज के साथ.... महाभाग्य से तुम्हें किन्हीं मुनिराज का सङ्ग प्राप्त हो तो तुम क्या करोगे।***

इस विषय पर आये हुए विभिन्न लेखों के आधार पर ब्र. हरिभाई, सोनगढ़ ने प्रस्तुत भावपूर्ण निबन्ध तैयार किया है, जो पाठकों के लाभार्थ यहाँ दिया जा रहा है।

एक बार मैं शान्तिवन में टहल रहा था, तभी मैंने वहाँ एक सिद्ध भगवान को देखा... अहा, अभी यहाँ सिद्ध भगवान? मन नहीं माना, परन्तु ज्ञान कहता था कि ये तो सिद्ध भगवान ही हैं... साक्षात् सिद्ध!

विकल्प कहता है — 'अशक्य है; इस काल में सिद्ध कहाँ? ये तो पञ्चम काल है?'

लेकिन ज्ञान कहता है – 'हाँ, ये तो पञ्चम काल में सिद्ध! जो आत्मा के आनन्द में झूलते दिखते हैं, वे सिद्ध भगवान ही हैं। **पञ्चम काल में चलते-फिरते सिद्ध...** अहो आश्चर्य... आश्चर्य...! इन्हें देखते ही आत्मा तो मुग्ध हो गया, शरीर से पार चैतन्यतत्त्व की अद्‌भुतता देखकर मेरा हृदय भक्ति से नम्रीभूत हो गया। वन में विचरते और महा आनन्द में झूलते इन मुनिराज की वीतराग मुद्रा देखते ही थोड़ी देर के लिए तो चित्त स्तम्भित हो गया, दुनिया विस्मृत हो गयी, इन्द्रियाँ ठहर गयीं, विकल्प शान्त हो गये... अहो आश्चर्य! अहो जिनके दर्शन से ही विकल्प शान्त होने लगे तो उनके अन्तर आत्मा में प्रवेश करने पर सर्व विकल्प मिटकर निर्विकल्प शान्ति अवश्य होती होगी, ऐसी प्रतीति हुई और मैंने ज्ञान द्वारा उनके हृदय में प्रवेश किया।'

कैसे हैं वे मुनिराज! कैसे हैं वे छोटे से सिद्ध!!

जिन्हें सहजरूप से बाह्य तथा अन्तरङ्ग त्याग वर्तता है; बाह्य में वस्त्रादिक का और अन्तर में कषायों का त्याग वर्तता है; जो निरन्तर आत्म-आनन्द के प्रचुर अनुभव में रत हैं। अरे! क्षण-क्षण में जो आश्चर्यकारी आनन्दसागर में डुबकी लगाते हैं और सिद्ध जैसे आनन्द का अनुभव करते हैं, फिर उन्हें सिद्ध क्यों नहीं कहा जाएगा? **पूज्यश्री कानजीस्वामी** के शब्दों में कहें तो – **'अहा! मुनिराज तो चलते-फिरते सिद्ध हैं।'**

अद्‌भुत, अपूर्व, सिद्धसमान आनन्द की हिलोरें उनके अन्तर में उल्लसित हो रही हैं। उन्हें प्रमाद का नामोनिशान नहीं, उन्हें चैतन्य की अनुभूति सतत सुलभ है और बाह्य विषयों का परिचय

छूट गया है। वे रागमात्र को शत्रु समझकर उससे सावधान हैं और अन्तर में उल्लसित सुखसागर का जल पीने में मग्न हैं... धन्य हैं ये मुनिराज!

अहो! आज कैसा अद्भुत अवसर आया है, अपूर्व सुनहरी अवसर है कि मुझे ऐसे मुनिराज के साक्षात् दर्शन हुए। उनका मिलन होने पर मानो सिद्ध का मिलन हुआ... परमात्मा का साक्षात्कार हुआ। जैसे, समुद्र में डूबते हुए व्यक्ति को छोटी-सी नौका मिल जाए अथवा रण में प्यासे सैनिक को मीठे पानी का छोटा-सा झरना दिखे तो वह हर्षित होता है; उसी प्रकार पञ्चम काल में छोटे से सिद्ध जैसे इन मुनिराज के दर्शन से मेरा हृदय अत्यन्त हर्षित हो रहा है। अहा! उसका वर्णन करना अशक्य है।

समुद्र जितनी स्याही और पृथ्वी जितने कागज पर लिखा जाए, तो भी जिनकी महिमा का पूरा वर्णन नहीं हो सकता, उस मुनिदशा की क्या बात! उनके सहवास का पल अत्यन्त धन्य था। उनकी आश्चर्यकारी ध्यानमुद्रा चैतन्यभाव की प्रेरक थी।

मैं स्तब्धरूप से एकटक मुनिराज की शान्तमुद्रा देख ही रहा था कि मुनिराज ध्यान से बाहर आ गये... मीठी नजर से मेरी तरफ देखा... अहा क्या मधुर दृष्टि! वह दृष्टि पड़ते ही मुझे तो मानो अपूर्व निधान मिला...। मुझे लगा कि मैं अनादि काल से अनन्त दुःख भोगता आया हूँ; अब इस भव में ऐसे मुनिराज प्राप्त हुए तो उनके समागम द्वारा इसी मार्ग पर जाकर अनादि काल के दुःख का अन्त करूँ और सादि-अनन्त काल के महान सुख की

प्राप्ति का प्रयत्न करूँ। यह मुनिराज अकेले-अकेले अपने अनन्त आनन्द में मग्न हैं तो इन्होंने वह आनन्द किस प्रकार प्राप्त किया? वह इनसे जानना चाहिए। ऐसी भावना से मैंने मुनिराज को त्रिबार नमोस्तु... नमोस्तु करके विनयपूर्वक पूछा —

'हे प्रभु! मैं अनादि काल से संसार में जन्म-मरण और कषायजनित अनन्त दुःख भोग रहा हूँ। अब इन भव-दुःखों से मैं थक गया हूँ। मुझे महान भाग्य से आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वास्तव में आप सुखी हैं, सुख का मार्ग जानते हैं; अतः कृपा करके सुख की प्राप्ति का मार्ग मुझे बताइये।'

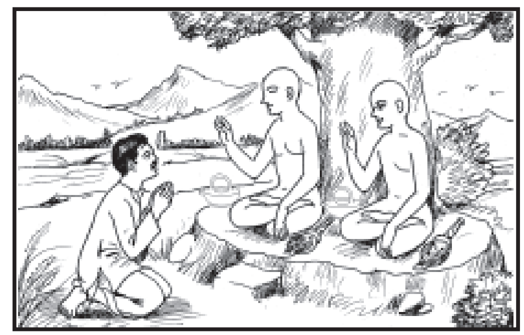

श्री मुनिराज ने मेरी जिज्ञासा जानकर प्रसन्नता व्यक्त की और शान्ति से मुझे समझाया। अहा! क्या मधुर थी वह वाणी! मानो अमृत झर रहा था, उन्होंने कहा —

'हे भव्य! तू आत्मा है, स्वयं ज्ञान-आनन्द स्वभाव से भरा है, परन्तु अपने स्वभाव को नहीं जानने से, विषय-कषाय के भावों में पड़कर तू दुःखी हो रहा है; इसलिए सर्व प्रथम तू अपने आत्मा को जान! पर्याय में व्यक्त चैतन्य-चिह्न द्वारा अपने आत्मा का स्वरूप जान और विषय-कषायों से पराङ्मुख हो... उनमें सुखबुद्धि का त्याग कर। अनादि से स्वपने माने हुए शरीर आदि जड़ में रचकर उसमें राग-द्वेष करके तू दुःखी हुआ, उसमें तुझे कहीं सुख प्राप्त

नहीं हुआ। अब उसमें स्वबुद्धि छोड़ दे, उनमें सुख नहीं है, सुख तेरे अपने में है, अपने सन्मुख देख!'

मैंने कहा — 'वाह प्रभु! आपकी वाणी मुझे आत्मा की तीव्र जिज्ञासा जगाती है। आप जिसे जानने को कहते हैं, वह मेरा स्वरूप कैसा है? और किस प्रकार मुझे उसका अनुभव होगा? वह मुझे समझाओ।'

श्री मुनिराज ने अत्यन्त गम्भीर ध्यान चेष्टापूर्वक कहा —

'हे भव्य! सुखमय तत्त्व तो तेरे अन्तर में सदा ही विद्यमान है, परन्तु अपने स्वतत्त्व के निजवैभव को भूलकर अनन्त काल से तूने काम-भोग-बन्धन की अर्थात् विषय-कषाय की कलङ्किनी कथा सुनकर, उसी से प्रेम किया है, उसी का बारम्बार परिचय किया है; इसलिए तेरे अन्तर में विद्यमान होने पर भी तुझे अपने सुख का अनुभव नहीं हुआ और तू दुःखी हुआ, परन्तु भाई! अब वह बात बीत गयी। अब तो मैं तुझे तेरा एकत्व-विभक्तस्वरूप बताता हूँ, तू अपूर्व आदरपूर्वक प्रेम से सुनना, समझना और उस आत्मा का अनुभव करना। तेरे सर्व दुःख दूर होकर अपूर्व सुख का वेदन होगा। आत्मा स्वयं भगवान है, वह अनुभूतिस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। ऐसे निज आत्मा की बात को तू प्रसन्नचित्त से, अपूर्वभाव से सुनकर, विचारकर अपने अनुभव में लेकर प्रमाण कर।

हे भव्य! सर्व प्रथम तू ज्ञानस्वरूप निज आत्मा में स्वबुद्धि करके शरीर और राग-द्वेष में स्वपना मानना छोड़ दे। तू ज्ञानस्वभावी भगवान है; पामर नहीं। चैतन्य की परमेश्वरता से भरे हुए तुझे

पामरपना शोभा नहीं देता। हे चेतन राजा! तू परद्रव्य के समक्ष सुख की भीख माँगता है, वह तुझे शोभा नहीं देता है; इसलिए ऐसा दुष्कृत्य छोड़ दे। परद्रव्य अथवा राग से तुझे कभी सुख प्राप्त नहीं होगा; इसलिए उनमें आत्मबुद्धि छोड़ दे। भाई! तू सुख-शान्ति का समुद्र होने पर भी मिथ्यात्व की अग्नि में सिक रहा है/जल रहा है। तेरे स्वभाव में रागादि का अङ्गार नहीं है। तू तो शान्तरस से भरा है। तू क्रोधादिरहित है, ज्ञानसहित है; क्रोधादि विभाव हैं, ज्ञान तेरा स्वभाव है।'

अहा! श्री मुनिराज, मुझे मेरा स्वरूप कैसा स्पष्ट समझा रहे हैं! मेरी वृत्ति स्वभाव-परभाव का भेदज्ञान करके अन्तर्मुख होती जा रही है। मुनिराज का क्षणभर का समागम चमत्कारी असर कर रहा है।

मैंने उनसे पूछा - 'प्रभो! मैं अन्तर में आत्मा को देखने जाता हूँ, किन्तु वहाँ राग-द्वेष भी दिखाई देते हैं तो उनका भेदज्ञान किस प्रकार करना?'

श्री मुनिराज ने कहा — ''हे वत्स! तूने अन्दर की बहुत सूक्ष्म बात पूछी है। सुन! ज्ञान और राग का समय एक होने पर भी उनके स्वरूप में अत्यन्त भिन्नता है। 'यह राग है, वह मैं हूँ' - ऐसा नहीं ज्ञात होता, परन्तु 'मैं ज्ञान हूँ और ये रागादि मेरे परज्ञेय हैं, वे ज्ञान से भिन्न हैं' - इस प्रकार वे परज्ञेयरूप से ज्ञात होते हैं और रागादि से भिन्न ज्ञान ही स्वपने अनुभव में आता है। इस ज्ञानरूप जो अनुभव में आता है, वह आत्मा तू स्वयं है। जैसे, स्वच्छ दर्पण में कोयला ज्ञात होते समय भी दर्पण स्वयं स्वच्छरूप

ही रहता है; उसी प्रकार तेरे आत्मा में राग-द्वेष ज्ञात होते हैं, तब भी तेरा आत्मा ज्ञानरूप ही परिणमता है, ज्ञान में तन्मय वर्तता है; इस प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानने से सम्यक् भेदज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है।

हे भव्य! तू राग का कर्तापना छोड़ और ज्ञातारस की शान्तधारा में आ जा। एक बार तू अपने स्वरूप का स्वाद लेकर फिर ज्ञान में ज्ञात होनेवाले रागादि के कर्तापने में मत अटक। कारण कि उन भावों में ज्ञानरस नहीं है, चेतनता नहीं है, वे भाव चेतनारहित हैं; उनका कर्तापन, उनमें तन्मयता ज्ञानधारा में नहीं है; इसलिए ज्ञानरस से ही निर्मित तेरे अखण्ड सत्द्रव्य का विचार कर और उपयोग को उसी में एकाग्र कर।''

अहा! जब श्री मुनिराज यह बात कर रहे थे, तब उनका चित्त चैतन्य में ही एकाग्र वर्त रहा था... यह देखकर मेरा चित्त भी सर्व परभावों से दूर होकर अन्तर में मुझ परमात्मतत्त्व को ही देखने जा रहा था... और दूसरे ही क्षण मैं स्वयं को परमात्मस्वरूप अनुभव कर रहा था। परमात्मा के साक्षात्कार के किसी महा अपूर्व आनन्द का अन्दर में वेदन हो रहा था। अहो! आश्चर्यकारी अद्भुत से भी अद्भुत उस वचनातीत अनुभूति के सम्पूर्ण गीत कौन गा सकता है!

अहा! परमात्मा जैसे मुनिवरों के सङ्ग ने मुझे भी परमात्मा बना दिया है... मेरा परमात्मपना मैंने अपने में ही देखा और उसके बल से मैं भी उन मुनिवरों के साथ-साथ मोक्षपन्थ में चलने लगा - ऐसी अनुभूति से बाहर आकर देखा तो वहाँ वे निस्पृह मुनिराज

गगनमार्ग से अन्यत्र विहार कर गये थे और मेरे हृदय में एक परमात्मतत्त्व देते गये थे।

धन्य मुनिवरों का उपकार! धन्य उनका समागम!!

मुनिराज/धर्मात्मा के सत्सङ्ग की यह घड़ी जीवन में मुझे दिन-रात याद आया करती है। अहा! मेरा ऐसा अद्भुत स्वरूप मुनिराज ने मुझे दिखाया। राग से पार मेरे ज्ञानस्वरूप का महान अतीन्द्रिय आनन्द मुझे उनके प्रताप से अनुभव में आया। मेरी इस ज्ञान अनुभूति में राग नहीं है, दुःख नहीं है, क्लेश नहीं है - ऐसी शान्त ज्ञानधारा की उग्रता द्वारा मैं मोह को सर्वथा जीतकर केवलज्ञान प्राप्त कर परमात्मा होऊँगा।

दो घड़ी मुनिराज के सत्सङ्ग का ऐसा महान फल! मेरे जीवन में ऐसा धन्य अवसर कब आवे कि मैं स्वयं मुनि होकर सततरूप से मुनिवरों के सहवास में रहूँ और ध्यानमग्न होकर उनके साथ-साथ मोक्षपुरी में जाऊँ। अन्दर से ऐसी ध्वनि आती है, मानो मुनिराज आशीर्वादपूर्वक मुझे बुला रहे हैं -

'हे भव्य! आ... चला आ... आनन्द से आकर हमारे साथ रह... और मोक्षपुरी में चल; मोक्षपुरी का दरवाजा तेरे लिए खुला है।'

बस, प्रभो आ ही रहा हूँ... आपके साथ रहने और मोक्ष को साधने। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन)

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिपूर्ण उद्‌गार

हम तो मुनियों के दासानुदास हैं

अहो! मुनिवर तो आत्मा के परम आनन्द में झूलते-झूलते मोक्ष की साधना कर रहे हैं। आत्मा के अनुभवपूर्वक दिगम्बर चारित्रदशा द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है। **दिगम्बर साधु अर्थात् साक्षात् मुक्ति का मार्ग। अहो! ये तो छोटे सिद्ध हैं!** अन्तर चिदानन्दस्वरूप में झूलते-झूलते बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते हैं। पञ्च परमेष्ठी की पंक्ति में जिनका स्थान है, ऐसे मुनिराज की महिमा की क्या बात? **ऐसे मुनिराज के दर्शन हों तो भी महान आनन्द की बात है। ऐसे मुनिवरों के तो हम दासानुदास हैं। हम उनके चरणाविन्द को नमन करते हैं। धन्य मुनिदशा! हम भी इस दशा की भावना भाते हैं।** *(- गुरुदेवश्री के वचनामृत, 142, पृष्ठ 90)*

केवलज्ञान के निकट खड़े हैं मुनिराज

भाई! सुन तो सही, मुनि के तो हम दासानुदास हैं, परन्तु उनमें सच्चा मुनिपना होना चाहिए। अहा! मुनिदशा अर्थात् क्या? भाई! मुनि तो परमेश्वरपद की केवलज्ञान भूमिका के निकट आ गये हैं। जिसे अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदनस्वरूप धारावाही परिणमन प्रगट हुआ हो, उसे मुनि कहते हैं। अहा! धन्य अवतार! धन्य जीवन! ऐसे मुनि को कौन नहीं मानेगा? यहाँ कहते हैं कि ऐसे अगाध शक्तिवान चैतन्यचक्रवर्ती को ग्रहण कर, उसका अन्तर में उग्र आश्रय कर तो सच्चा मुनिपना प्रगट होगा। *(- गुरुदेवश्री के वचनामृत, पृष्ठ 311)*

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक -

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातृश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (21) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (22) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (23) श्रीमती त्रिशलादेवी वीरेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (24) श्रीमती कोकिलाबेन शाह c/o श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (25) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई।

संरक्षक -

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर।

परम सहायक -

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली;

(16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग।